सम्यक्त्व कथा

अंजनचोरका नि:शंक होकर मंत्र पढ़ना, फलस्वरूप आकाशगामिनी विद्या मिलना और मेरु पर्वतके जिनालयके दर्शन हेतु जाना।

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ (सौराष्ट्र)

भगवान श्री कुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प नं. २७२

ॐ

सम्यक्त्व कथा

卐

: गुजराती लेखक :

ब्र. हरिलाल जैन

सोनगढ

卐

: हिन्दी अनुवादक :

पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन

बिजौलियां, भीलवाडा, (राज.)

卐

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति प्रत : १००० वि.सं. २०७५ ई.स. २०१९

सम्यक्त्व कथा (हिन्दी) के

✽ स्थायी प्रकाशन पुरस्कर्ता ✽

ज्ञानचंद्रजी जैन,

वीर वस्त्रालय, ठाकुरगंज, किशनगंज (बिहार)

ॐ

સહજ ચિદાનંદ.

मूल्य रू. 10=00

: मुद्रक :

स्मृति ओफसेट

सोनगढ (सौराष्ट्र)

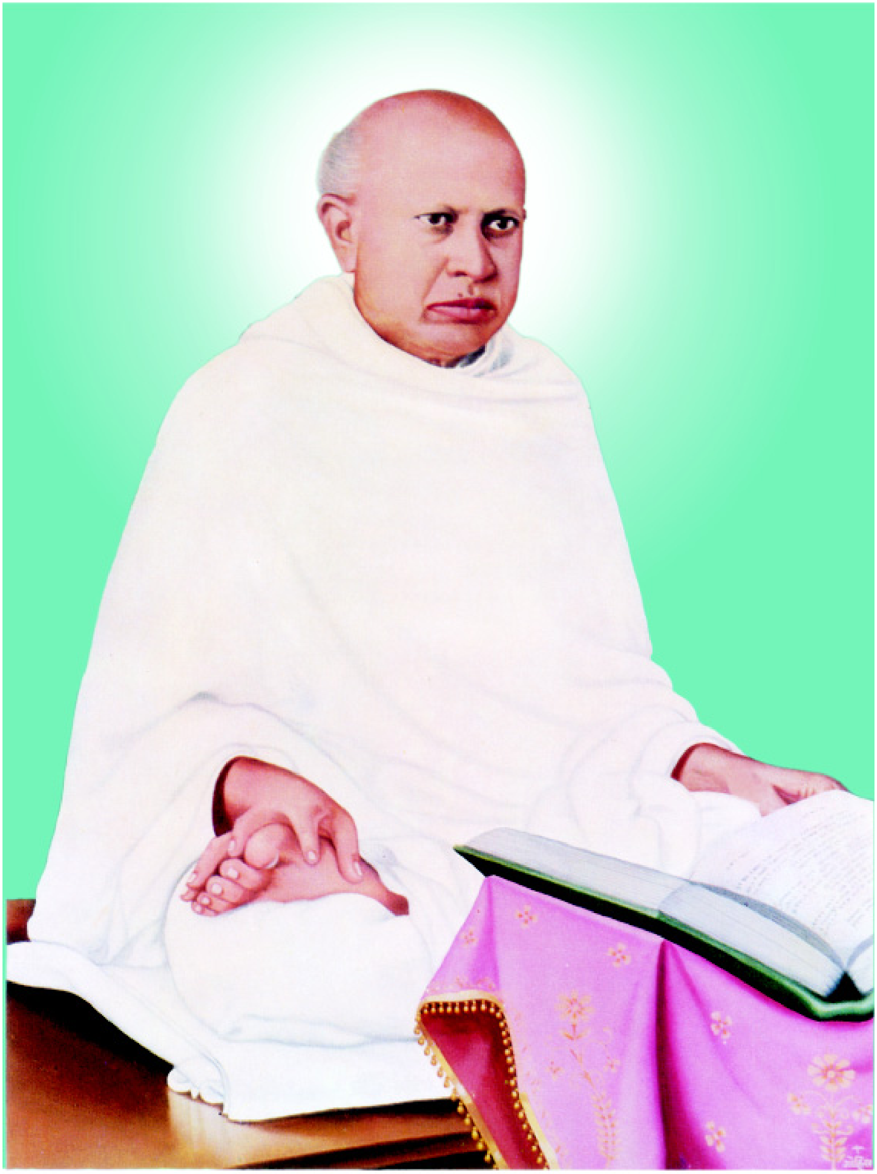

પરમ પૂજ્ય અધ્યાત્મમૂર્તિ સદ્‌ગુરુદેવ શ્રી કાનજીસ્વામી

प्रकाशकीय निवेदन

सम्यक्त्व कथाका यह प्रथम हिन्दी संस्करण प्रकाशित करते अति हर्ष हो रहा है।

भगवान महावीरकी दिव्यध्वनिमेंसे प्रवाहित और कुंदकुंदादि आचार्यो प्रणित गम्भीर वचनोंका रहस्य समझानेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्त पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके आत्मसाधनासे सुवर्णपुरी पवित्र तीर्थधाम बन गया है। जहाँसे कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनकी गूंज सम्पूर्ण विश्वमें गुंजायमान हुई है और हो रही है।

इस पुस्तकमें सम्यक्त्वके आठ अंगका स्वरूप समझाया है। एवं प्रत्येक अंगके पालन करनेमें प्रसिद्ध जीवोंकी आठ कथाएँ दी गयी हैं, जो सम्यक्त्वकी आराधनामें उत्साह जागृत करती है। बालकोंको बालपनसे ही सम्यग्दर्शनकी महिमा जागृत कर उसकी आराधनाके संस्कार प्रवाहित करनेके लिए ये कथाएँ अत्यंत उपयोगी हैं। इनता ही नहीं, समस्त समाजमें जैनधर्मकी महिमा, कुसंस्कारोंका त्याग, परस्पर प्रेम–वात्सल्य और प्रभावनाके प्रसार हेतु इस पुस्तकमेंसे प्रेरणा प्राप्त होगी। बालकोंमें अथवा बड़ोंमें उत्तम संस्कार सहजतासे प्रवाहित करनेके लिए साधन हो तो वार्ता/कथा है। वार्ताके रस द्वारा वीतरागरसके संस्कारोंका सिंचन करनेका इस पुस्तकमें प्रयत्न किया गया है।

इस पुस्तकका सुंदर लेखन गुजराती भाषामें ब्रह्मचारी हरिलाल जैनने किया है, जिन्होंने कथा-वार्ताओंकी बहुतसी पुस्तकें लिखी हैं एवं पूज्य गुरुदेवश्रीके अनेक प्रवचनोंका आलेखन एवं बाल साहित्यका निर्माण किया है। तदर्थ हम उनके कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। इस गुजराती पुस्तकका हिन्दी रूपान्तरण कार्य पंडित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राज.) द्वारा किया गया है अतः हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं। मुद्रणकार्यके लिये स्मृति ऑफसेटके आभारी है।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक द्वारा सम्यग्दर्शनके समस्त अंगोंकी प्रभावना होगी तथा बालक और बड़े सभी इसका वांचन करके आत्महितके लिए आगे बढ़ेंगे।

साहित्यप्रकाशक समिति
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

पूज्य बहिनश्रीकी
१०६वीं जन्मजयंती
दि. १७-८-२०१९

अनुक्रमणिका

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों की कथाएँ	1
नि:शंकित-अंग में प्रसिद्ध : अंजनचोर की कथा	2
सम्यग्दृष्टि के नि:शंकितादि आठ गुणों का वर्णन	7
नि:कांक्षित-अंग में प्रसिद्ध : अनन्तमती की कथा	10
नि:कांक्षित अंग का वर्णन	18
निर्विचिकित्सा-अंग में प्रसिद्ध : उदायन राजा की कथा	24
निर्विचिकित्सा अंग का वर्णन	27
अमूढ़दृष्टि-अंग में प्रसिद्ध : रेवतीरानी की कथा	30
अमूढ़दृष्टि अंग का वर्णन	37
उपगूहन-अंग में प्रसिद्ध : जिनेद्रभक्त सेठ की कथा	39
उपगूहन अंग का वर्णन	43
स्थितिकरण-अंग में प्रसिद्ध : वारिषेण मुनि की कथा	48
स्थितिकरण अंग का वर्णन	54
वात्सल्य-अंग में प्रसिद्ध : विष्णकुमार मुनि की कथा	57
वात्सल्य अंग का वर्णन	64
प्रभावना-अंग में प्रसिद्ध : वज्रकुमार मुनि की कथा	67
प्रभावना अंग का वर्णन	72

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों की कथाएँ

सम्यक् सहित आचार ही संसार में एक सार है,
जिन ने किया आचरण उनकी नमन सौ-सौ बार है।
उनके गुणों के कथन से गुण ग्रहण करना चाहिये,
अरु पापियों का हाल सुनकर पाप तजना चाहिये॥

सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा की अनुभूतिसहित आठ अंगों का पालन होता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्री समन्तभद्रस्वामी ने इन आठ अंगों का पालन करने में प्रसिद्ध आठ जीवों का उदाहरण दिया है, वह निम्नानुसार है।

अंजन निरंजन हुए उनने नहीं शंका चित धरी॥१॥
बाई अनंतमती सती ने विषय आशा परिहरी॥२॥
सज्जन उदायन नृपतिवरने ग्लानि जीती भाव से॥३॥
सत्-असत् का किया निर्णय रेवती ने चाव से॥४॥
जिनभक्तजी ने चोर का वह महादूषण ढँक दिया॥५॥
जब वारिषेणमुनीश मुनि के चपल चित को थिर किया॥६॥
सु विष्णुकुमार कृपालु ने मुनिसंघ की रक्षा करी॥७॥
जय वज्रमुनि जयवंत तुमसे धर्ममहिमा विस्तरी॥८॥

मुमुक्षुओं को सम्यक्त्व की महिमा जागृत करे और आठ अंग के पालन में उत्साह प्रेरित करे, इसलिए इन आठ अंगों की आठ कथायें यहाँ दी जा रही हैं।

1

निःशंकित-अंग में प्रसिद्ध
अंजनचोर की कथा

अंजनचोर! वह कहीं प्रारम्भ से ही चोर नहीं था; वह तो उसी भव से मोक्ष पानेवाला एक राजकुमार था। उसका नाम था ललितकुमार। अब तो वह निरंजन भगवान है, परन्तु लोग उसे अंजनचोर के नाम से पहचानते हैं।

उस राजकुमार को दुराचारी जानकर राज्य में से निकाल दिया था। उसने एक ऐसा अंजन सिद्ध किया कि जिसके आँजने से स्वयं अदृश्य हो जाए; उस अंजन के कारण उसे चोरी करना सरल हो गया और अंजनचोर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चोरी के अलावा जुआ और वैश्यासेवन का महान पाप भी वह करता था।

एक बार उसकी प्रेमिका स्त्री ने रानी का सुन्दर रत्नाहार देखा और उस हार के पहिनने की उसकी इच्छा हुयी। जब अंजनचोर उसके पास आया और उसने कहा कि यदि तुम्हें मेरे प्रति सच्चा प्रेम है, तो मुझे वह रत्नहार लाकर दो।

अंजन बोला — देवी! मेरे लिए तो यह तुच्छ बात है — ऐसा कहकर वह तो चौदस की अँधेरी रात में राजमहल में घुस गया और रानी के गले में से हार निकालकर भाग गया।

रानी का अमूल्य हार चोरी हो जाने से चारों तरफ हाहाकार मच गया। सिपाही लोग दौड़े, उन्हें चोर तो दिखायी नहीं पड़ता था, परन्तु उसके हाथ में पकड़ा हुआ हार अन्धेरे में जगमगा रहा था। उसे देखकर सिपाहियों ने उसका पीछा किया। पकड़े जाने के भय से हाथ का हार दूर फैंककर अंजन चोर भागा..... और श्मशान में

जा पहुँचा। थककर एक वृक्ष के नीचे खड़ा हो गया; वहाँ एक आश्चर्यकारी घटना उसने देखी। वृक्ष के ऊपर छींका टाँगकर एक पुरुष उस पर चढ़-उतर रहा था और कुछ पढ़ भी रहा था। कौन है, यह मनुष्य और ऐसी अन्धेरी रात में यहाँ क्या करता है ?

[पाठक! चलो, अंजनचोर को यहाँ थोड़ी देर खड़ा रखकर हम इस अनजान पुरुष का परिचय प्राप्त करें।]

★ ★ ★

अमितप्रभ और विद्युतप्रभ नाम के दो पूर्व भव के मित्र थे। अतिमप्रभ तो जैन धर्म का भक्त था, और विद्युतप्रभ अभी कुधर्म को मानता था। एक बार वह धर्म की परीक्षा के लिए निकला। एक अज्ञानी तपसी को तप करते देखकर उसकी परीक्षा करने के लिए उससे कहा; अरे बाबाजी! पुत्र के बिना सद्गति नहीं होती—ऐसा शास्त्र में कहा है, — यह सुनकर वह तपसी तो खोटे धर्म की श्रद्धा से वैराग्य छोड़कर संसार-भोगों में लग गया; यह देखकर विद्युतप्रभ ने उस कुगुरु की श्रद्धा छोड़ दी।

फिर उसने कहा कि अब जैन गुरु की परीक्षा करनी चाहिए। तब अमितप्रभ से उसका कहा — मित्र! जैन साधु परम वीतराग होते हैं; उनकी तो क्या बात! उनकी परीक्षा तो दूर रही — परन्तु यह जिनदत्त नाम का एक श्रावक, सामायिक की प्रतिज्ञा करके अन्धेरी रात में इस श्मशान में अकेला ध्यान कर रहा है, उसकी तुम परीक्षा करो।

जिनदत्त की परीक्षा करने के लिए उस देव ने अनेक प्रकार से भयानक उपद्रव किए, परन्तु जिनदत्त सेठ तो सामायिक में पर्वत की तरह अडिग ही रहा; अपने आत्मा की शान्ति से वह किञ्चित्

मात्र विचलित नहीं हुआ। अनेक प्रकार के भोग-विलास बताये किन्तु उनमें भी वह नहीं लुभाया। एक जैन श्रावक में भी ऐसी अद्भुत दृढ़ता देखकर वह देव अत्यन्त प्रसन्न हुआ; पश्चात् सेठ ने उसे जैनधर्म की महिमा समझायी कि देह से भिन्न आत्मा है, उसके अवलम्बन से जीव अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है और उसके ही अवलम्बन से मुक्ति प्राप्त करता है। इससे उस देव को भी जैनधर्म की श्रद्धा हुई और सेठ का उपकार मानकर उसे आकाशगामिनी विद्या दी।

उस आकाशगामिनी विद्या से सेठ जिनदत्त प्रतिदिन मेरु तीर्थ पर जाते, और वहाँ अद्भुत रत्नमय जिनबिम्ब तथा चारणऋद्धिधारी मुनिवरों के दर्शन करते, इससे उन्हें बहुत आनन्द प्राप्त होता था। एकबार सोमदत्त नामक माली के पूछने पर सेठ ने उसे आकाशगामिनी विद्या की सारी बात बतायी और रत्नमय जिनबिम्ब का बहुत बखान किया। यह सुनकर माली को भी उनके दर्शन करने की भावना जागृत हुयी और आकाशगामिनी विद्या सीखने के लिए सेठ से निवेदन किया। सेठ ने उसे विद्या साधना सिखा दिया, तद्नुसार अन्धेरी चतुर्दशी की रात में श्मशान में जाकर उसने वृक्ष पर छींका लटकाया और नीचे जमीन पर तीक्ष्ण नोंकदार भाला गाड़ दिया। अब आकाशगामिनी विद्या को साधने के लिए छींके में बैठकर, पञ्च नमस्कार मन्त्र आदि मन्त्र बोलकर उस छींके की डोरी काटनेवाला था, परन्तु नीचे भाला देखकर उसे भय लगने लगता था और मन्त्र में शंका होने लगती थी कि यदि कहीं मन्त्र सच्चा न पड़ा और मैं नीचे गिर गया तो मेरे शरीर में भाला घुस जाएगा। इस प्रकार सशंक होकर वह नीचे उतर जाता और फिर यह विचार करके कि सेठ ने जो कहा है, वह सत्य ही होगा। यह

सोचकर फिर जाकर छींके में बैठ जाता। इस तरह बारम्बार वह छींके में चढ़-उतर कर रहा था; किन्तु निःशंक होकर वह डोरी काट नहीं पाता था।

जैसे चैतन्यभाव की निःशंकता बिना शुद्ध-अशुद्ध विकल्पों के बीच झूलता हुआ जीव, निर्विकल्प अनुभवरूप आत्मविद्या को नहीं साध सकता, वैसे ही उस मन्त्र के सन्देह में झूलता हुआ वह माली, मन्त्र को नहीं साध पाता था।

इतने में अंजनचोर भागता हुआ वहाँ आ पहुँचा और माली को विचित्र क्रिया करते देखकर उससे पूछा — हे भाई! ऐसी अन्धेरी रात में तुम यह क्या कर रहे हो? सोमदत्त माली ने उसे सब बात बतायी। वह सुनते ही उसको उस मन्त्र पर परम विश्वास जम गया, और कहा कि लाओ! मैं यह मन्त्र साधूँ। ऐसा कहकर श्रद्धापूर्वक मन्त्र बोलकर उसने निःशंक होकर छींके की डोरी काट दी, आश्चर्य! नीचे-गिरने के बदले बीच में ही देवियों ने उसे साध लिया, और कहा कि मन्त्र के प्रति तुम्हारी निःशंक श्रद्धा के कारण तुम्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो गयी है; अब आकाशमार्ग से तुम जहाँ जाना चाहो, जा सकते हो।

अब अंजन चोरी छोड़कर जैनधर्म का भक्त बन गया; उसने कहा कि जिनदत्त सेठ के प्रताप से मुझे यह विद्या मिली है, इसलिए जिन भगवान के दर्शन करने वे जाते हैं, उन्हीं भगवान के दर्शन करने की मेरी इच्छा है।

★ ★ ★

[बन्धुओ! यहाँ एक बात विशेष लक्ष्य में लेने की है; जब अंजनचोर को आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुयी, तब उसे चोरी का

धन्धा करने के लिए उस विद्या का उपयोग करने की दुर्बुद्धि उत्पन्न नहीं हुई, किन्तु जिनबिम्ब के दर्शनादि धर्मकार्य में ही उसका उपयोग करने की सद्‌बुद्धि पैदा हुयी। यही उसके परिणामों का परिवर्तन सूचित करता है और ऐसी धर्मरुचि के बल से ही आगे चलकर वह सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करता है।]

★ ★ ★

विद्या सिद्ध करने पर अंजन ने विचार किया कि अहा! जिस जैनधर्म के एक छोटे से मन्त्र से मुझ जैसे चोर को भी ऐसी विद्या सिद्ध हुयी, तो वह जैनधर्म कितना महान होगा! उसका स्वरूप कितना पवित्र होगा। चलो, जिन सेठ के प्रताप से मुझ यह विद्या मिली, उन्हीं सेठ के पास जाकर मैं उस धर्म का स्वरूप समझूँ। और उन्हीं के पास से ऐसा मन्त्र सीखूँ कि जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो—ऐसा विचारकर विद्या के बल से वह मेरुपर्वत पर पहुँचा।

वहाँ रत्नों की अद्‌भुत अरहन्त भगवन्तों की वीतरागता देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। जिनदत्त सेठ उस समय वहाँ मुनिवरों का उपदेश सुन रहे थे। अंजन ने उनका बहुत उपकार माना और मुनिराज का उपदेश सुनकर शुद्धात्मा का स्वरूप समझकर उसकी निःशंक श्रद्धापूर्वक निर्विकल्प अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, इतना ही नहीं, पूर्व पापों का पश्चाताप करके उसने मुनिराज के पास दीक्षा ले ली; साधु होकर आत्मध्यान करते उसे केवलज्ञान प्रगट हो गया और अन्त में कैलाशगिरि से मोक्ष प्राप्त करके सिद्ध हो गए। 'अंजन' के स्थान पर वह 'निरंजन' बन गए। उन्हें नमस्कार हो।

(यह कथा हमें जैनधर्म की निःशंक श्रद्धा करके उसकी आराधना का पाठ पढ़ाती है।) ●

सम्यग्दृष्टि के निःशंकितादि आठ गुणों का वर्णन

सम्यग्दर्शन की महिमा अद्भुत है। परद्रव्यों से भिन्न अपने शुद्ध एकत्वस्वरूप आत्मा की रुचि–अनुभूति–श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसे सम्यग्दर्शन के साथ जिनवचन में निःशंकता इत्यादि आठ गुण होते हैं, उनका यह वर्णन है—

1– जिनवचन में शंका न करना।

2– धर्म के फल में संसार सुख की वांछा न करना।

3– मुनि का शरीर इत्यादि मलिन देखकर धर्म के प्रति घृणा न करना।

4– तत्त्व और कुतत्त्व; वीतरागदेव और कुदेव; सच्चे गुरु और कुगुरु इत्यादि के स्वरूप की पहिचान करना, उसमें मूढ़ता न रखना।

5– अपने गुण को तथा अन्य साधर्मी के अवगुण को ढाँके और वीतरागभावरूप जैनधर्म की वृद्धि करे, इसका नाम उपगूहन (अथवा उपबृंहण) अंग है।

6– कामवासना इत्यादि के कारण से अपना या पर का आत्मा धर्म से डिग जाए अथवा शिथिल होने का प्रसंग होवे तो वैराग्य भावना द्वारा अथवा धर्म की महिमा द्वारा अपने को और पर को धर्म में स्थिर करे, दृढ़ करे, वह स्थितिकरण है।

7– अपने साधर्मीजनों के प्रति गाय–बछड़े के समान सहज आत्मभाव रखना, वह वात्सल्य है।

8- अपनी शक्ति द्वारा जैनधर्म की शोभा बढ़ाना, उसकी महिमा प्रसिद्ध करके उसे दीप्त करना, वह प्रभावना है।

—ऐसे निःशंकतादि आठ गुणों द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव शोभित होता है; जिसमें निःशंकित अंग का पालन करनेवाले अंजनचोर की वार्ता आपने अभी पढ़ी। उस निःशंकित अंग का वर्णन अब आप पढ़िये।

(1) निःशंकित अंग का वर्णन

सर्वज्ञ जिनदेव ने जैसा कहा, वैसे ही जीवादि तत्त्व हैं, उनमें धर्मी को शंका नहीं होती। सर्वज्ञ के स्वरूप का निर्णय तो किया है, इसलिए पहिचानपूर्वक की निःशंकिता की यह बात है। पहिचान बिना मान लेने की यह बात नहीं है। जीव क्या, अजीव क्या - इत्यादि तत्त्व तो अरिहन्तदेव ने कहे, तद्नुसार स्वयं समझकर उनकी निःशंक श्रद्धा करे और कोई सूक्ष्म तत्त्व न समझ में आये, उसे विशेष समझने के लिए जिज्ञासा से प्रश्नरूप आशंका करे, इससे कहीं उसे जिनवचन में सन्देह नहीं है। सर्वज्ञ कथित जैनशास्त्रों में कहा है, वह सत्य होगा या अभी के वैज्ञानिक कहते हैं, वह सत्य होगा? - ऐसा सन्देह धर्मी को नहीं रहता।

अहा! जिसे सर्वज्ञस्वभाव प्रतीति में आया, परम अतीन्द्रिय वस्तु प्रतीति में आयी, उसे सर्वज्ञ के कहे हुए तत्त्व—छह द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रुव, द्रव्य-गुण-पर्याय - इत्यादि (भले वे सब स्वयं को प्रत्यक्ष न हो तो भी) उनमें शंका नहीं होती।

निश्चय में अपने ज्ञानस्वभावरूप आत्मा की परम निःशंकता है और व्यवहार में देव-गुरु-धर्म में निःशंकता है। जैनधर्म एक ही

सत्य होगा या जगत में दूसरे धर्म कहलाते हैं, वे सत्य होंगे ? – ऐसी जिसे शंका है, उसे तो स्थूल मिथ्यात्व है, उसे व्यवहार धर्म की निःशंकता भी नहीं है। वीतरागी जैनधर्म के अतिरिक्त किसी मार्ग की मान्यता तो धर्मी को कदाचित् भी नहीं होती।

जैसे माता की गोद में बालक निःशंक है कि यह माता मेरा हित करेगी। उसे शंका नहीं है कि कोई मारेगा तो माता मुझे बचायेगी या नहीं ? इसी प्रकार जिनवाणी माता की गोद में धर्मी निःशंक होता है कि यह जिनवाणी मुझे सत्यस्वरूप बतलाकर मेरा हित करनेवाली है। संसार से यह मेरी रक्षा करेगी। ऐसी जिनवाणी माता में उसे सन्देह नहीं होता।

परमेश्वर वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्त परमात्मा, जिन्होंने केवलज्ञान में वीतरागभाव से सम्पूर्ण विश्व को साक्षात् देखा है, उन परमात्मा को पहिचानकर उनमें निःशंक होना और उनके कहे हुए मार्ग में तथा उनके कहे हुए तत्त्वों में निःशंक होना, यह निःशंकतागुण है।

2

निःकांक्षित-अंग में प्रसिद्ध
अनन्तमती की कथा

अनन्तमती! चम्पापुर के प्रियदत्त सेठ उसके पिता, और अंगवती उसकी माता, वे दोनों जैनधर्म के परम भक्त और वैरागी धर्मात्मा थे, उनके उत्तम संस्कार अनन्तमती को भी मिले थे।

अनन्तमती अभी तो सात-आठ वर्ष की बालिका थी और गुड़ियों का खेल खेलती थी; इतने में ही एक बार अष्टाह्निका के पर्व में धर्मकीर्ति मुनिराज पधारे और सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का उपदेश दिया; उसमें निःकांक्ष गुण का उपदेश देते हुए कहा कि — हे जीव! संसार के सुख की वाँछा छोड़कर आत्मा के धर्म की आराधना करो। धर्म के फल में जो संसार-सुख की इच्छा करता है, वह मूर्ख है। सम्यक्त्व या व्रत के बदले में मुझे देवों की या राजाओं की विभूति मिले — ऐसी जो वाँछा करता है, वह तो संसार-सुख के बदले में सम्यक्त्वादि धर्म को बेच देता है, छाछ के बदले में रत्न-चिन्तामणि बेचनेवाले मूर्ख के समान है। अहा, अपने में ही चैतन्य-चिन्तामणि जिसने देखा, वह बाह्य विषयों की वाँछा क्यों करे?

अनन्तमती के माता-पिता भी मुनिराज का उपदेश सुनने के लिये आए थे और अनन्तमती को भी साथ लाए थे। उपदेश के बाद उन्होंने आठ दिन का ब्रह्मचर्यव्रत लिया और हँसी में अनन्तमती से कहा कि तू भी यह व्रत ले ले। निर्दोष अनन्तमती ने कहा— अच्छा, मैं भी यह व्रत अंगीकार करती हूँ।

इस प्रसंग को अनेक वर्ष व्यतीत हो गये। अनन्तमती अब

युवा हुयी, उसका रूप सोलहकलाओं सहित खिल उठा, रूप के साथ –साथ धर्म के संस्कार भी खिलते गये।

एकबार सखियों के साथ वह उद्यान में घूमने–फिरने गयी थी और एक झूले पर झूल रही थी; इतने में उधर से एक विद्याधर राजा निकला और अनन्तमती का अद्भुत रूप देखकर मोहित हो गया, और विमान में उसे उड़ा ले गया, परन्तु इतने में ही उसकी रानी आ पहुँची; इसलिए भयभीत होकर उस विद्याधर से अनन्तमती को भयङ्कर वन में छोड़ दिया। इस प्रकार दैवयोग से एक दुष्ट राजा के पञ्जे से उसकी रक्षा हुयी।

अब घोर वन में पड़ी हुयी अनन्तमती, पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करने लगी और भयभीत होकर रुदनपूर्वक कहने लगी कि अरे! इस जंगल में मैं कहा जाऊँ? क्या करूँ? यहाँ कोई मनुष्य तो दिखायी नहीं देता।

इतने में उस जंगल का राजा भील शिकार करने निकला, उसने अनन्तमती को देखा... अरे! यह तो कोई वनदेवी है या कौन है? ऐसी अद्भुत सुन्दरी दैवयोग से मुझे मिली है; इस प्रकार वह दुष्ट भील भी उस पर मोहित हो गया। वह उसे अपने घर ले गया और कहा – हे देवी! मैं तुम पर मुग्ध हुआ हूँ और तुम्हें अपनी रानी बनाना चाहता हूँ .... तुम मेरी इच्छा पूर्ण करो।

निर्दोष अनन्तमती तो उस पापी की बात सुनते ही सुबक – सुबककर रोने लगी। अरे! मैं शीलव्रत की धारक और मेरे ऊपर यह क्या हो रहा है? अवश्य ही पूर्वजन्म में किसी गुणीजन के शील पर मैंने दोषारोपण या उनका अनादर किया होगा; उसी दुष्टकर्म के कारण आज जहाँ जाती हूँ, वहीं मुझ पर ऐसी विपत्ति

आ पड़ती है... परन्तु अब वीतराग धर्म का मैंने शरण लिया है, उसके प्रताप से मैं शीलव्रत से डिग नहीं सकती। अन्त में देव भी मेरे शील की रक्षा करेंगे। भले प्राण जायें किन्तु मैं शील को नहीं छोड़ूँगी।

उसने भील से कहाः 'अरे दुष्ट! अपनी दुबुद्धि को छोड़! तेरे धन-वैभव से मैं कभी ललचानेवाली नहीं हूँ। तेरे धन-वैभव को मैं धिक्कारती हूँ!'

अनन्तमयी ऐसी दृढ़ बात सुनकर भील राजा क्रोधित हो गया और निर्दयतापूर्वक उससे बलात्कार करने को तैयार हो गया...

इतने में ऐसा लगा कि मानो आकाश फट गया हो और एक महादेवी वहाँ प्रगट हुई। उस देवी-तेज को वह दुष्ट भील सहन न कर सका, और उसके होश-हवाश उड़ गये। वह हाथ जोड़कर क्षमा माँगने लगा। देवी ने कहा -यह महान शीलव्रती सती है, इसे जरा भी सतायेगा तो तेरी मौत हो जावेगी। और अनन्तमती पर हाथ फेरकर कहा - बेटी! धन्य है तेरे शील को; तू निर्भय रहना। शीलवान सती का बाल बाँका करने में कोई समर्थ नहीं है। ऐसा कहकर वह देवी अदृश्य हो गयी।

वह भील भयभीत होकर अनन्तमती को लेकर नगर में एक सेठ के हाथ बेच आया। उस सेठ ने पहले तो यह कहा कि मैं अनन्तमती को उसके घर पहुँचा दूँगा; ...परन्तु वह भी उसका रूप देखकर कामान्ध हो गया और कहने लगा - हे देवी! अपने हृदय में तू मुझे स्थान दे और मेरे इस अपार धन-वैभव को भोग।

उस पापी की बात सुनकर अनन्तमती स्तब्ध रह गयी। अरे!

फिर यह क्या हुआ ? वह समझाने लगी कि हे सेठ ! आप तो मेरे पिता–तुल्य हो। दुष्ट भील के चंगुल से छूटकर यहाँ आने के बाद तो मैंने समझा था कि मेरे पिता मिल गये और आप मुझे मेरे घर पहुँचा दोगे। अरे ! आप भले आदमी होकर ऐसी नीच बात क्यों करते हैं ? यह आपको शोभा नहीं देता; अतः ऐसी पापबुद्धि छोड़ो।

बहुत समझाने पर भी दुष्ट सेठ नहीं समझा, तब अनन्तमती ने विचार किया कि इस दुष्ट का हृदय विनय–प्रार्थना से नहीं पिघलेगा, इसलिए क्रोध–दृष्टिपूर्वक उस सती ने कहा कि अरे दुष्ट ! कामान्ध ! तू दूर जा, मैं तेरा मुख भी नहीं देखना चाहती।

अनन्तमती का क्रोध देखकर सेठ भी भयभीत हो गया और उसकी अक्ल ठिकाने आ गयी। क्रोधपूर्वक उसने अनन्तमती को कामसेना नाम की एक वैश्या को सौंप दिया।

अरे ! कहाँ उत्तम संस्कारवाले माता–पिता का घर ! और कहाँ वह वैश्या का घर ! अनन्तमती को अन्तर–वेदना का पान नहीं था, परन्तु अपने शीलव्रत में वह अडिग थी। संसार का वैभव देखकर उसका मन तनिक भी ललचाया नहीं था।

ऐसी सुन्दरी को प्राप्त करके कामसेना वैश्या अत्यन्त प्रसन्न हुयी और 'इससे मुझे बहुत आमदनी होगी' — ऐसा समझकर वह अनन्तमती को भ्रष्ट करने का प्रयत्न करने लगी। उससे अनेक प्रकार के कामोत्तेजक वार्तालाप किये, बहुत लालच दिये, बहुत डर भी दिखाया, परन्तु फिर भी अनन्तमती अपने शीलव्रत से रञ्चमात्र भी नहीं डिगी। कामसेना को तो ऐसी आशा थी कि इस युवा स्त्री का व्यापार करके मैं विपुल धन कमाऊँगी, परन्तु उसकी आशा पर पानी फिर गया। उस बेचारी विषय–लोलुप वैश्या को

क्या पता कि इस युवा स्त्री ने तो अपना जीवन ही धर्मार्थ अर्पण कर दिया है और संसार के विषय-भोगों की इसे अणुमात्र भी आकांक्षा नहीं है। संसार के भोगों के प्रति इसका चित्त एकदम निष्कांक्ष है। शील की रक्षा करते हुए चाहे जितना दुःख आ पड़े किन्तु इसे उसका भय नहीं है।

अहा! जिसका चित्त निष्कांक्ष है, वह भय से भी संसार के सुखों की इच्छा कैसे करे? जिसने अपने आत्मा में ही परम सुख का निधान देखा है, वह धर्मात्मा, धर्म के फल में संसार के देवादिक वैभव के सुख स्वप्न में भी नहीं चाहता—ऐसी निष्कांक्षित हुई अनन्तमती की यह दशा ऐसा सूचित करती है कि उसके परिणामों का प्रवाह अब स्वभाव सुख की ओर झुक रहा है। ऐसे धर्मसन्मुख जीव, संसार के दुःख से कभी नहीं डरते और अपना धर्म कभी नहीं छोड़ते।

संसार के सुख का वाँछक जीव अपने धर्म में अडिग नहीं रह सकता। दुःख से डरकर वह धर्म को भी छोड़ देता है।

जब कामसेना ने जाना कि अनन्तमती किसी भी प्रकार से वश में नहीं आयेगी, तो उसने बहुत-सा धन लेकर उसे सिंहराज नामक राजा को सौंप दिया।

बेचारी अनन्तमती! — मानों सिंह के जबड़े में जा पड़ी। उसके ऊपर पुनः एक नयी मुसीबत आयी और दुष्ट सिंहराज भी उस पर मोहित हो गया, परन्तु अनन्तमती ने उसका तिरस्कार किया। विषयान्ध हुआ वह पापी अभिमानपूर्वक सती पर बलात्कार करने को तैयार हो गया, किन्तु क्षण में उसका अभिमान चूर हो गया। सती के पुण्य प्रताप से (नहीं,—शीलप्रताप से) वनदेवी

वहाँ आ गयी और दुष्ट राजा को शिक्षा देते हुए कहा कि खबरदार, भूलकर भी इस सती को हाथ लगाना नहीं। सिंहराज तो देवी को देखते ही श्रृंगाल जैसा हो गया, उसका हृदय भय से काँप उठा; उसने क्षमा माँगी और तुरन्त ही सेवक को बुलाकर अनन्तमती को मानसहित जंगल में छोड़ आने के लिए आज्ञा दे दी।

अब अनजान जंगल में कहाँ जाना चाहिए? इसका अनन्तमती को कुछ पता नहीं था; इतने-इतने उपद्रवों में भी अपने शीलधर्म की रक्षा हुई—ऐसे सन्तोषपूर्वक, घोर जङ्गल के बीच में पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करती हुयी आगे बढ़ी। उसके महाभाग्य से थोड़ी ही देर में आर्यिकाओं का एक संघ दिखायी पड़ा, वह अत्यन्त आनन्दपूर्वक आर्यिका माता की शरण में गयी। अहा! विषयलोलुप संसार में जिसको कहीं शरण न मिली, उसने वीतरागमार्गी साध्वी की शरण ली; उसके आश्रय में पहुँचकर अश्रुपूर्ण आँखों से उसने अपनी बीती कथा कही। वह सुनकर भगवती आर्यिका माता ने वैराग्यपूर्वक उसे आश्वासन दिया और उसके शील की प्रशंसा की। भगवती माता की शरण में रहकर वह अनन्तमती शान्तिपूर्वक अपनी आत्मसाधना करने लगी।

★ ★ ★

अब इस तरफ चम्पापुरी में जब विद्याधर, अनन्तमती को उड़ाकर ले गया, तब उसके माता-पिता बेहद दुःखी हुए। पुत्री के वियोग से खेदखिन्न होकर चित्त को शान्त करने के लिए वे तीर्थयात्रा करने निकले और यात्रा करते-करते तीर्थङ्कर भगवन्तों को जन्मपुरी अयोध्या नगरी में आ पहुँचे। प्रियदत्त के साले (अनन्तमती के मामा) जिनदत्त सेठ यहीं रहते थे; वहाँ आते ही आँगन में एक

सुन्दर रंगोली (चौक) देखकर प्रियदत्त सेठ की आँखों में से आँसुओं की धार वह निकली; अपनी प्रिय पुत्री की याद करके उन्होंने कहा कि मेरी पुत्री अनन्तमती भी ऐसी ही रंगोली पूरती थी; अत: जिसने यह रंगोली पूरी हो, उसके पास मुझे ले जाओ। वह रंगोली पूरनेवाला कोई दूसरा नहीं था, अपितु अनन्तमती स्वयं ही थी; अपने मामा के यहाँ जब वह भोजन करने आयी थी, तभी उसने रंगोली पूरी थी, फिर बाद में वह आर्यिका संघ में चली गयी थी। तुरन्त ही सभी लोग संघ में पहुँचे। अपनी पुत्री को देखकर और उस पर बीती हुई कथा सुनकर सेठ गद्‌गद हो गये, और कहा 'बेटी ! तूने बहुत कष्ट भोगे, अब हमारे साथ घर चल, तेरे विवाह की तैयारी करेंगे।'

विवाह का नाम सुनते ही अनन्तमती चौंक उठी और बोली— पिताजी ! आप यह क्या कहते हैं ? मैंने तो ब्रह्मचर्यव्रत लिया है और आप भी यह बात जानते हैं। आपने ही मुझे यह व्रत दिलाया था।

पिताजी ने कहा—बेटी, यह तो तेरे बचपन की हँसी की बात थी। फिर भी यदि तुम उस प्रतिज्ञा को सत्य ही मानती हो तो भी वह तो मात्र आठ दिन की प्रतिज्ञा थी; इसलिए अब तुम विवाह करो।

अनन्तमती दृढ़ता से कहा—पिताजी आप भले ही आठ दिन की प्रतिज्ञा समझे हों, परन्तु मैंने तो मन से आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा धारण की थी। मैं अपनी प्रतिज्ञा प्राणान्त होने पर भी नहीं छोड़ूँगी। अत: आप विवाह का नाम न लेवें।

अन्त मे पिताजी ने कहा—अच्छा बेटी, जैसी तेरी इच्छा, परन्तु अभी तू मेरे साथ घर चल और वही धर्मध्यान करना।

तब अनन्तमती कहती है—पिताजी! इस संसार की लीला मैंने देख ली, संसार में भोग-लालसा के अतिरिक्त दूसरा क्या है? इससे तो अब बस होओ। पिताजी! इस संसार सम्बन्धी किसी भोग की आकाँक्षा मुझे नहीं है। मैं तो अब दीक्षा लेकर आर्यिका होऊँगी और इन धर्मात्मा आर्यिकाओं के साथ रहकर अपने आत्मिकसुख को साधूँगी।

पिता ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु जिसके रोम-रोम में वैराग्य छा गया हो, वह इस असार-संसार में क्या रहे? सांसारिक सुखों को स्वप्न में भी न चाहनेवाली अनन्तमती नि:कांक्षित भावना के दृढ़ संस्कार के बल से मोहबन्धन को तोड़कर वीतरागधर्म की साधना में तत्पर हुयी। उसने पद्मश्री आर्जिका के समीप दीक्षा अंगीकार कर ली और धर्मध्यानपूर्वक समाधिमरण करके स्त्रीपर्याय को छोड़कर बारहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुई।

खेल-खेल में भी लिए हुए शीतव्रत का जिसने दृढ़तापूर्वक पालन किया और स्वप्न में भी सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं की, सम्यक्त्व अथवा शील के प्रभाव से कोई ऋद्धि आदि मुझे प्राप्त हो —ऐसी आकांक्षा भी जिसने नहीं की, वह अनन्तमती देवलोक में गयी। अहा! देवलोक के आश्चर्यकारी वैभव की क्या बात! किन्तु परम निष्कांक्षिता के कारण उससे भी उदास रहकर वह अनन्तमती अपने आत्महित को साध रही है। धन्य है उसकी नि:काँक्षिता को!

[— यह कथा, सांसारिक सुख की वाँछा तोड़कर, आत्मिक -सुख की साधन में तत्पर होन के लिए हमें प्रेरणा / शिक्षा देती है।] ●

2. निःकांक्षित अंग का वर्णन

धर्मी जीव धर्म द्वारा भव-सुख की वांछा नहीं करते। अर्थात् पुण्य को और पुण्य के फल को नहीं चाहते। धर्म से मुझे स्वर्गादि सुख प्राप्त हों, ऐसी वांछा, वह भवसुख की वांछा है। वैसी वांछा अज्ञानी को होती है। ज्ञानी ने तो अपने आत्मा को ही सुखस्वरूप अनुभव किया है, इसलिए अब उन्हें अन्यत्र कहीं सुखबुद्धि नहीं रही है, इसलिए वे निःकांक्ष हैं। सम्यग्दृष्टि ने निःकांक्षित गुण द्वारा भवसुख की वांछा को नष्ट किया है।

'भवसुख' ऐसा अज्ञानी की भाषा से कहा है; वस्तुतः भव में सुख है ही नहीं परन्तु अज्ञानी देवादि के भव में सुख मानता है, इन्द्रिय विषयों में सुख मानता है, क्योंकि आत्मा के सुख की तो उसे खबर नहीं।

अरे! सम्यग्दृष्टि तो आत्मा के सुख को अनुभव करनेवाला, मोक्ष का साधक! वह संसार-भोगों को कैसे चाहेगा? जिसके वेदन से अनादि काल से दुःखी हुआ, उसे ज्ञानी कैसे चाहेगा? भव-तन-भोग यह तो उसे अनादि काल की जूठन जैसे लगते हैं; अनन्त बार जीव उन्हें भोग चुका है परन्तु सुख का कण भी उसमें से नहीं मिला है।

धर्म का प्रयोजन क्या? धर्म का प्रयोजन, धर्म का फल तो आत्मसुख की प्राप्ति होना है, धर्म का फल कहीं बाहर में नहीं आता। जिसने आत्मा के सुख का स्वाद नहीं जाना, उसे गहरे-गहरे संसार-भोगों की चाहना पड़ी है तथा उसके कारणरूप पुण्य

की और शुभभाव की रुचि पड़ी है, उसे सच्चा निःकांक्षितपना नहीं होता। भले राज–पाट–घर–कुटुम्ब छोड़कर त्यागी हुआ हो, परन्तु जब तक राग से भिन्न चैतन्य रस चखा (अनुभव किया) नहीं, तब तक उसे संसार भोगों की वांछा पड़ी ही है और सम्यग्दृष्टि जीव राजपाट, घर–कुटुम्बादि संयोगों में वर्तता हो, उस प्रकार का राग भी वर्तता हो, (वास्तव में उसमें कहीं वह नहीं वर्तता, वह तो अपनी चेतना में ही तन्मय वर्तता है, परन्तु संयोग अपेक्षा से राजपाट में और राग में वर्तता है, ऐसा कहा है—), तथापि अन्तर में उन सबसे पार अपने चैतन्यरस का आनन्द चखा है, इसलिए उसे उनमें कहीं स्वप्न में भी सुखबुद्धि नहीं है। इसलिए राग होने पर भी श्रद्धा के बल से उसे निःकांक्षितपना ही वर्तता है। धर्मी की यह कोई अलौकिक दशा है, जो अज्ञानी को पहिचान में नहीं आती, पहिचान ले तो अज्ञान नहीं रहता।

धर्म के फल में कोई पैसा नहीं मिलता, पैसा इत्यादि मिलना, वह कहीं धर्म का प्रयोजन नहीं है; धर्म का प्रयोजन तो आत्मा का सुख मिलना है और उस सुख में कुछ पैसे इत्यादि की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह तो संयोगरहित स्वाभाविक सुख आत्मा में से ही उत्पन्न होता है। ऐसे सुख को जो जानता है, उसे संसार में दूसरे किसी की भी वांछा नहीं रहती, कहीं सुखबुद्धि नहीं होता। धर्मी को धर्म के साथ के राग के कारण पुण्य बँधता है और उस पुण्य के फल में बाहर के वैभव मिलते हैं परन्तु धर्मी को उनकी वांछा नहीं है, उससे तो वह अपने आत्मा को अत्यन्त भिन्न जानता है।

शुभराग हो और व्यापार–विवाह–वास्तु इत्यादि प्रसंग में भगवान को याद करे, वह अलग बात है, उसमें कहीं भवसुख की वांछा

धर्मी को नहीं है। जो सर्वज्ञ का भक्त हुआ, उसे संसार की वांछा नहीं होती। राग का एक कण भी मेरे ज्ञान में नहीं है–ऐसा जाननेवाला ज्ञानी, उस राग के फल को क्यों चाहेगा ? मोक्षरूप जो परमसुख, उसके अतिरिक्त अन्य किसी आशा से वह धर्म का सेवन नहीं करता। धर्म का फल तो वीतरागी सुख है, बाह्य वैभव या इन्द्रादि पद, वह कहीं धर्म का फल नहीं है; वह तो राग का–विकार का–पुण्य का फल है। उस पुण्यरूप फल को अज्ञानी चाहता है, इसलिए वह भोग–हेतु को सेवन करता है – ऐसा कहा है; रागरहित शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप मोक्षहेतु धर्म की उसे खबर नहीं है।

अन्तर के अनुभव में अपने चैतन्य परमदेव को सेवन करनेवाला धर्मी जानता है कि मेरा यह चैतन्य चिन्तामणि आत्मा ही मुझे परम सुख देनेवाला है, उसके अतिरिक्त मैं अन्य किसे चाहूँ ? अरे ! स्वर्ग का देव आवे तो भी मुझे उससे क्या लेना है ? अज्ञानी को तो स्वर्ग का देव आने की बात सुने वहाँ चमत्कार लगता है और उसकी महिमा के कारण धर्म को भूल जाता है क्योंकि उसे स्वयं को स्वर्गादि के भोग की वांछा है। अरे ! मूर्ख लोग तो भोग की वांछा से सर्प–बन्दर–गाय इत्यादि तिर्यंच प्राणियों को भी देव–देवी रूप से पूजते हैं। देखो न, जैन नाम धरानेवाले लोग भी भोग की वांछा से, पुत्रादि की वांछा से अनेक देव–देवलाओं को पूजते हैं। मूर्ख को यह कुछ विवेक होता है ? भगवान का सच्चा भक्त तो प्राण जाए तो भी मिथ्या देव–देवियों को नहीं पूजता, नहीं मानता। कोई कहे – मांगलिक सुनूँगा तो पैसे मिलेंगे, परन्तु भाई ! जैनों का मांगलिक ऐसा नहीं होता; जैनों का मांगलिक तो मोक्ष प्रदान करे, ऐसा होता है। मांगलिक के फल में पैसे मिलने की आशा धर्मी नहीं

रखता। इस प्रकार धर्मी निःकांक्षितभाव से धर्म का सेवन करता है।

प्रश्न—व्यापारादि में पैसा मिले, ऐसी वांछा तो धर्मी को भी होती है - तो उसे निःकांक्षितपना कहा रहा ?

उत्तर—उसे अभी उस प्रकार अशुभराग है, परन्तु उस राग से या पैसे में से मुझे सुख मिलेगा - ऐसी मिथ्याबुद्धिरूप वांछा उसे नहीं है। राग और संयोग दोनों से पार मेरी चेतना है, उसमें ही मेरा सुख है, ऐसा जाननेवाले धर्मी उस चेतना के फल में बाह्य सामग्री को नहीं चाहता, इसीलिए वह निःशंक है। वह धर्मात्मा इन्द्रपद या चक्रवर्ती पद के वैभव को भोगता दिखायी दे, तथापि उसे विषयभोगों का रंचमात्र आदर नहीं है। अरे ! हम अतीन्द्रिय आनन्द के पिण्ड, जगत में कहीं हमारा आनन्द है ही कहाँ ? इसीलिए कहा है कि—

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।
काकवीट सम गीनत हैं सम्यग्दृष्टि लोगा॥

(इन्दौर के काँच के जिनमन्दिर में भी यह दोहा लिखा हुआ है)

विषयों की ओर के विकल्प को धर्मी जीव दुःख और जेल -समान गिनता है, उनमें सुखबुद्धि नहीं; इसलिए उनकी वांछा नहीं है। उत्तम वस्तु खाते-पीते दिखायी दे, स्त्री-पुत्रादि के बीच दिखायी दे, इससे कहीं धर्मी उनमें सुख मानते होंगे ? - नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं है। आनन्दस्वरूप मेरा आत्मा ही है, पर में सुख किंचित् भी नहीं है - ऐसे निःशंक भान में वर्तते धर्मात्मा देवलोक के सुख को भी नहीं चाहते। उसमें सुख है ही नहीं, फिर वांछा किसकी ? चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष स्वर्ग के वैभव की क्या गिनती ? इन्द्र के वैभव में उस सुख की गन्ध भी नहीं है। (सम्यग्दृष्टि इन्द्र को आत्मा का सुख होता है, यह अलग बात है

परन्तु बाहर के वैभव में तो उसकी गन्ध भी नहीं है और वह इन्द्र स्वयं उसमें सुख नहीं मानता है)।

अज्ञानी बाहर में भले विषयों का त्यागी हो, तथापि अभिप्राय में उसे विषयों की वांछा है, क्योंकि राग में सुखबुद्धि है। जिसने चैतन्य का इन्द्रियातीत सुख नहीं देखा है, उसे गहरे-गहरे राग में और विषयों में सुखबुद्धि पड़ी ही है। यदि उनमें मिठास न हो तो उनसे विमुख होकर चैतन्यसुख में क्यों न आवे? उसने चैतन्यसुख देखा नहीं और इन्द्रियविषयों में सुखबुद्धि है, इसलिए उसे सच्चा निःकांक्षितपना नहीं होता। भले सीधे रूप से वह विषयों की अभिलाषा न करे परन्तु अन्दर अभिप्राय में तो उसे विषयों की आकांक्षा पड़ी ही है।

सम्यग्दृष्टि तो सिद्ध का पुत्र हो गया है; वह तो अखण्ड एक ज्ञायकस्वभाव की अनुभूति करके जितेन्द्रिय हो गया है। आत्मा के अतिरिक्त जगत में उसे कहीं सुखबुद्धि नहीं है। पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों की वृत्ति आवे, इसलिए उसमें वह सुख मानता होगा – ऐसा बिल्कुल नहीं है; अन्दर के अनाकुल आनन्द की ही भावना है। आहाहा! धर्मी की चेतना का खेल तो धर्मी ही जानते हैं। अज्ञानी ऊपरी तौर से देखकर धर्मी का सच्चा माप निकाल सके, ऐसा नहीं है। धर्मी का अन्तरहृदय बाहर से दिखायी नहीं देता। धर्मी जानता है कि मेरा धर्म तो मुझमें है, उसका फल कहीं बाहर में नहीं आता। बाहर के पुण्य फल तो कमोद के ऊपर छिलके जैसे हैं, लोग तो उन्हें ही देखते हैं। अन्दर के वास्तविक वीतरागी कस को लोग नहीं देखते। धर्म के बदले में लौकिक फल को धर्मी नहीं चाहते, दुनिया को दिखाने के लिए वे धर्म नहीं

करते। धर्मी का धर्म तो अपने आत्मा में ही समाहित होता है और उसका फल भी आत्मा में ही आता है।

कोई देव आकर सेवा करे तो धर्मी उससे ललचाते नहीं और कोई देव आकर पीड़ा दे, पैसे इत्यादि उठाकर ले जाए तो उससे डरकर धर्मी अपना धर्म नहीं छोड़ते। धर्मबुद्धि से ऐसे किसी देव को वे नहीं मानते। मैं धर्म करता हूँ, इसलिए स्वर्ग का कोई देव प्रसन्न होकर मुझे लाभ कर देगा – ऐसी बुद्धि धर्मी को नहीं होती। सर्वज्ञ वीतराग अरिहन्त देव के अतिरिक्त अन्य कुदेवों के समक्ष वह कभी सिर नहीं झुकाता। मैं वीतरागता का साधक, वीतराग के अतिरिक्त दूसरों को देव नहीं मानता। चैतन्य के वीतरागस्वभाव के अतिरिक्त पुण्य की भी जहाँ वांछा नहीं, (धर्मी न चाहे पुण्य को...) वहाँ बाहर के पाप-भोगों की क्या बात ? देखो तो सही, यह तो सब सम्यग्दर्शन के साथ में व्यवहार में आ जाता है। सम्यग्दर्शन की निश्चय अनुभूति की तो क्या बात !

धर्मी जानता है कि सर्वज्ञता और वीतरागता ही मेरे वास्तविक भगवान का वास्तविक चमत्कार है; इसके अतिरिक्त बाहर के दूसरे किसी चमत्कार के लिए वह भगवान को नहीं मानता। बाहर के संयोग का आना-जाना तो पुण्य-पाप के अनुसार बना करता है। धर्म के साथ उसे क्या सम्बन्ध है ? धर्मी जीव ऐसी बाहर की आकांक्षा नहीं करते। जहाँ राग से भिन्न आत्मा के आनन्द को अपने में देखा, वहाँ भव सुख की वांछा कहाँ से रहेगी ? इसलिए देवगति के सुख को भी धर्मी नहीं चाहता, ऐसा सम्यग्दृष्टि का निःकांक्षित अंग है। इस प्रकार, सम्यग्दृष्टि के आठ गुणों में से दूसरा गुण कहा।

3

निर्विचिकित्सा–अंग में प्रसिद्ध

उदायन राजा की कथा

सौधर्म–स्वर्ग में देवों की सभा लगी हुई है; इन्द्र महाराज देवों को सम्यग्दर्शन की महिमा समझा रहे हैं। हे देवों! सम्यग्दर्शन में तो आत्मा का कोई अद्भुत सुख है। जिस सुख के समक्ष इस स्वर्ग–सुख की कोई गिनती नहीं है। इस स्वर्गलोक में मुनिदशा नहीं हो सकती, परन्तु सम्यग्दर्शन की आराधना तो यहाँ भी हो सकती है।

मनुष्य तो सम्यक्त्व की आराधना के अतिरिक्त चारित्रदशा भी प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। जो जीव, निःशंकता, निःकाँक्षा, निर्विचिकित्सा आदि आठ अंगों सहित शुद्ध सम्यग्दर्शन के धारक हैं, वे धन्य हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवों की यहाँ स्वर्ग में भी हम प्रशंसा करते हैं।

वर्तमान में कच्छ देश में उदायन राजा ऐसे सम्यक्त्व से शोभायमान हैं तथा सम्यक्त्व के आठों अंग का पालन कर रहे हैं। जिसमें निर्विचिकित्सा–अंग के पालन में वे बहुत दृढ़ हैं। मुनिवरों की सेवा में वे इतने तत्पर हैं कि चाहे जैसा रोग हो तो भी वे रञ्चमात्र जुगुप्सा नहीं करते तथा ग्लानिरहित परमभक्ति से धर्मात्माओं की सेवा करते हैं। उन्हें धन्य हैं! वे चरमशरीरी हैं।

राजा के गुणों की ऐसी प्रशंसा सुनकर वास्रव नाम के एक देव को यह सब प्रत्यक्ष देखने की इच्छा हुयी और वह स्वर्ग से उतरकर मनुष्यलोक में आया।

★ ★ ★

उदायनराजा एक मुनिराज को भक्तिपूर्वक आहारदान ने लिए पड़गाहन कर रहे हैं — पधारो, पधारो, पधारो! रानी सहित उदायनराजा नवधाभक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान देने लगे।

अरे, यह क्या? कई लोग तो वहाँ से दूर भागने लगे और बहुत से मुँह के आगे कपड़ा लगाने लगे क्योंकि इन मुनि के काले-कुबड़े शरीर में भयंकर कुष्ठ रोग था और उससे असह्य दुर्गन्ध निकल रही थी; हाथ-पैर की उँगलियों से पीप निकल रही थी।

— परन्तु राजा को इसका कोई लक्ष्य नहीं था। वह तो प्रसन्नचित्त होकर परम भक्तिपूर्वक एकाग्रता से मुनि को आहारदान दे रहे थे, और अपने को धन्य मान रहे थे —कि अहा! रत्नत्रयधारी मुनिराज का हमारे घर आगमन हुआ। उनकी सेवा से मेरा जीवन सफल हुआ है।

इतने में अचानक मुनि का जी मचलाया और उल्टी हो गयी; और वह उल्टी राजा-रानी के शरीर पर गिरी। दुर्गन्धित उल्टी गिरने पर भी राजा-रानी को न तो ग्लानि उत्पन्न हुयी और न मुनिराज के प्रति रञ्चमात्र तिरस्कार ही आया; बल्कि अत्यन्त सावधानी से वे मुनिराज के दुर्गन्धमय शरीर को साफ करने लगे और विचारने लगे कि अरे रे! हमारे आहारदान में जरूर कोई भूल हो गयी है, जिसके कारण मुनिराज को यह कष्ट हुआ, हम मुनिराज की पूरी सेवा न कर सके।

अभी तो राजा ऐसा विचार कर रहे हैं कि इतने में वे मुनि अचानक अदृश्य हो गए और उनके स्थान पर एक देव दिखायी दिया। अत्यन्त प्रशंसापूर्वक उसने कहा — हे राजन्! धन्य है

तुम्हारे सम्यक्त्व को तथा धन्य है तुम्हारी निर्विचिकित्सा को! इन्द्र महाराज ने तुम्हारे गुणों की जैसी प्रशंसा की थी, वैसे ही गुण मैंने प्रत्यक्ष देखे हैं। हे राजन! मुनि के वेश में मैं ही तुम्हारी परीक्षा करने आया था। धन्य है आपके गुणों को!—ऐसा कहकर देव ने नमस्कार किया।

वास्तव में मुनिराज को कोई कष्ट नहीं हुआ — ऐसा जानकर राजा का चित्त प्रसन्न हो गया, और वे बोले — हे देव! यह मनुष्य शरीर तो स्वभाव से ही मलिन है तथा रोगादिक का घर है। अचेतन शरीर मैला हो, उससे आत्मा को क्या? धर्मी का आत्मा तो सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों से शोभायमान है। शरीर की मलिनता को देखकर जो धर्मात्मा के गुणों के प्रति अरुचि करता है, उसे आत्मदृष्टि नहीं है; देहदृष्टि है। अरे, चमड़े के शरीर से ढँका हुआ आत्मा अन्दर सम्यग्दर्शन के प्रभाव से शोभायमान है, वह प्रशंसनीय है।

उदायन राजा ऐसी श्रेष्ठ बात सुनकर देव बहुत प्रसन्न हुआ और उसने राजा को कई विद्याएँ दीं तथा अनेक वस्त्राभूषण दिये परन्तु राजा को उन सबकी इच्छा कहाँ थी? वे तो समस्त परिग्रह का त्याग करके वर्द्धमान भगवान के समवसरण में गए और मुनिदशा अंगीकार की तथा केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष को प्राप्त हुए। सम्यग्दर्शन प्रताप से वे सिद्ध हुए। उन्हें मेरा नमस्कार हो!

[यह छोटी सी कथा हमें ऐसा बोध देती है कि धर्मात्मा के शरीरादि को अशुचि देखकर भी उनके प्रति ग्लानि मत करो तथा उनके सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों का बहुमान करो।] ●

3. निर्विचिकित्सा अंग का वर्णन

जिसने आत्मा और शरीर को भिन्न जाना है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव, शरीर में अशुचि देखकर आत्मा के धर्म के प्रति ग्लानि नहीं करते अर्थात् कोई मुनि इत्यादि धर्मात्मा का शरीर मलिन या रोगवाला देखकर उनके प्रति घृणा-ग्लानि नहीं होती परन्तु शरीर मलिन होने पर भी अन्दर में आत्मा तो चैतन्य धर्मों से शोभित हो रहा है- उसका बहुमान आता है। ऐसे मलिन - कोढ़ी शरीरवाले को कहीं धर्म होता है ? ऐसे धर्म के प्रति ग्लानि का भाव नहीं होता - ऐसा सम्यग्दृष्टि का विचिकित्सा अंग है।

सर्वज्ञ के देह में तो अशुचि होती ही नहीं तथा उन्हें रोगादि भी नहीं होते परन्तु साधक धर्मात्मा मुनि इत्यादि को तो देह में मलिनता या रोगादि भी होते हैं। किसी समय शरीर में कुष्ठ होता है, शरीर दुर्गन्धित हो जाता है, तो उसे देखकर धर्मी विचार करता है कि अहो! यह आत्मा तो अन्दर सम्यग्दर्शनादि अपूर्व रत्नों से शोभित हो रहा है, देह के प्रति इन्हें कोई ममत्वबुद्धि नहीं है। रोगादि तो देह में होते है और देह तो स्वभाव से ही अशुचि है। इस प्रकार देह और आत्मा के भिन्न-भिन्न धर्म विचारकर धर्मी जीव, देह की मलिनता इत्यादि देखकर भी धर्मात्मा के प्रति ग्लानि नहीं करता। अपने शरीर में भी रोगादि मलिनता होवे तो इससे अपने धर्मों से वह च्युत नहीं होता अथवा धर्म में शंका नहीं करता।

मुनि तो देह के प्रति अत्यन्त उदास हैं। वे स्नानादि नहीं करते, देह की शोभा का या देह के शृंगार का उन्हें लक्ष्य नहीं है। वे तो

स्वानुभवरूपी स्नान द्वारा आत्मा को शोभित करनेवाले हैं। रत्नत्रय उनका शृंगार है। अहो! ऐसे मुनियों को देखने से रत्नत्रय धर्म के बहुमान से उनके चरणों में सिर नम्रीभूत हो जाता है।

अरे! देह तो स्वभाव से ही अशुचि का धाम और क्षणभंगुर है और धर्मात्मा तो रत्नत्रय द्वारा सहज पवित्र हैं। शरीर में सुगन्ध या दुर्गन्ध जड़ का धर्म है। ऐसा कुछ नहीं कि धर्मी का शरीर काला-कुबड़ा हो ही नहीं। किसी का शरीर काला-कुबड़ा भी हो, आवाज भी स्पष्ट न निकलती हो, इससे क्या? अन्दर तो देह से भिन्न ज्ञानशरीरी रूप से धर्मात्मा अपने को अनुभव करता है। समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं कि -

सम्यग्दर्शनसम्पन्नम् अपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारन्तरौजसम्॥

चाण्डाल के शरीर में रहा हुआ सम्यग्दृष्टि आत्मा, देव समान शोभता है। राख से ढँकी हुई अग्नि की चिंगारी के समान देहरूपी राख के अन्दर सम्यक्त्वरूप चैतन्य चिंगारी से वह आत्मा शोभता है, वह प्रशंसनीय है। इस प्रकार आत्मा के सम्यक्त्व धर्म को पहिचाननेवाला जीव, शरीरादि की अशुचि देखकर भी धर्मात्मा के प्रति घृणा-तिरस्कार नहीं करता परन्तु उनके पवित्र धर्म के प्रति प्रेम और आदर करता है, उसे निर्विचिकित्सा अंग है।

किसी धर्मी को पुण्य कम हो - इससे क्या? पुण्य तो उदयभाव का फल है, उससे आत्मा की शोभा नहीं है। आत्मा तो सम्यक्त्वादि से ही शोभित होता है। धर्म में तो गुण से ही शोभा है, कहीं पुण्य से शोभा नहीं है। एक तिर्यंच-श्वान भी यदि सम्यग्दृष्टि हो तो

शोभता है और मिथ्यादृष्टि बड़ा देव हो तो भी शोभता नहीं है। कोई धर्मी कम पुण्योदय के कारण निर्धन-कुरूप हो और स्वयं धनवान -रूपवान हो तो इस कारण से धर्मी दूसरे साधर्मियों से अपनी अधिकता नहीं मानते और सामनेवाले का तिरस्कार नहीं करते, परन्तु उसके गुण की प्रीतिपूर्वक आदर करते हैं कि वाह ! देहादि की ऐसी प्रतिकूलता, तथापि यह अपने धर्म को साध रहा है। पुण्य के तो अनेक प्रकार हैं, उनमें हीनाधिकता हो-उससे क्या ? अन्दर धर्म दूसरी चीज़ है। इस प्रकार देह और आत्मा के धर्मों का भिन्न -भिन्नपना जाने, उसे देहादि की हीनता देखकर भी धर्मात्मा के गुणों के प्रति ग्लानि का भाव नहीं होता, अपितु गुण का प्रेम आता है, ऐसा सम्यक्त्व का तीसरा अंग है।

4

अमूढ़दृष्टि-अंग में प्रसिद्ध
रेवतीरानी की कथा

इस भरतक्षेत्र के बीच में विजयार्द्ध पर्वत स्थित है, उस पर विद्याधर मनुष्य रहते हैं, उन विद्याधरों के राजा चन्द्रप्रभु का मन संसार से विरक्त था, वे राज्यभार अपने पुत्र को सौंपकर तीर्थयात्रा करने के लिए निकल पड़े। वे कुछ समय दक्षिण मथुरा में रहे, वहाँ के प्रसिद्ध तीर्थों और रत्नों के जिनबिम्बों से शोभायमान जिनालय देखकर उन्हें आनन्द हुआ। उस समय मथुरा में गुप्ताचार्य नाम के महा मुनिराज विराजमान थे, वे विशिष्टज्ञान के धारी थे तथा मोक्षमार्ग का उत्तम उपदेश देते थे। चन्द्रराजा ने कुछ दिनों तक मुनिराज का उपदेश श्रवण किया तथा भक्तिपूर्वक उनकी सेवा की।

कुछ समय बाद उन्होंने उत्तर मथुरानगरी की यात्रा को जाने का विचार किया — कि जहाँ से जम्बूस्वामी मोक्ष को प्राप्त हुए हैं तथा जहाँ अनेक मुनिराज विराजमान थे; उनमें भव्यसेन नाम के मुनि भी प्रसिद्ध थे। उस समय मथुरा में वरुण राजा राज्य करते थे, उनकी रानी का नाम रेवती देवी थी।

चन्द्रराजा ने मथुरा जाने की अपनी इच्छा गुप्ताचार्य के समक्ष प्रगट की और आज्ञा माँगी तथा वहाँ के संघ को कोई सन्देश ले जाने के लिए पूछा।

तब श्री आचार्यदेव ने सम्यक्त्व की दृढ़ता का उपदेश देते हुए कहा कि आत्मा का सच्चा स्वरूप समझनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव, वीतराग अरहन्तदेव के अतिरिक्त अन्य किसी को देव नहीं मानते। जो देव न हो, उसे देव मानना, वह देवमूढ़ता है। ऐसी मूढ़ता धर्मी

को नहीं होती। मिथ्यामत के देवादिक बाह्य में चाहे जितने सुन्दर दिखते हों, ब्रह्मा-विष्णु या शंकर के समान हो, तथापि धर्मी-जीव उनके प्रति आकर्षित नहीं होते। मथुरा की राजरानी रेवतीदेवी ऐसे सम्यक्त्व को धारण करनेवाली हैं तथा जैनधर्म की श्रद्धा में वे बहुत दृढ़ हैं, उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहना तथा वहाँ विराजमान सुरत-मुनि कि जिनका चित्त रत्नत्रय में मग्न है, उन्हें वात्सल्यपूर्वक नमस्कार कहना।

—इस प्रकार आचार्यदेव ने सुरत मुनिराज को तथा रेवती रानी को सन्देश भेजा परन्तु भव्यसेन मुनि को तो याद भी न किया; इससे राजा को आश्चर्य हुआ, और पुनः आचार्य महाराज से पूछा कि अन्य किसी से कुछ कहना है? परन्तु आचार्यदेव ने इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा।

इससे चन्द्रराजा को ऐसा लगा कि क्या आचार्यदेव, भव्यसेन मुनि को भूल गए होंगे? — नहीं, नहीं, वे भूले तो नहीं हैं, क्योंकि वे विशिष्ट ज्ञान के धारक हैं, इसलिए उनकी इस आज्ञा में अवश्य ही कोई रहस्य होगा। ठीक, जो होगा वह वहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देगा — इस प्रकार समाधान करके, आचार्यदेव के चरणों में नमस्कार करके वे मथुरा की ओर चल दिये।

मथुरा में आकर सर्व प्रथम उन्होंने सुरतमुनिराज के दर्शन किए, वे अत्यन्त उपशान्त और शुद्धरत्नत्रय के पालन करनेवाले थे। चन्द्रराजा ने उनसे गुप्ताचार्य का सन्देश कहा उनकी ओर से नमस्कार किया।

चन्द्रराजा की बात सुनकर सुरतमुनिराज ने प्रसन्नता व्यक्त की

और स्वयं भी विनयपूर्वक हाथ जोड़कर श्री गुप्तआचार्य को परोक्ष नमस्कार किया। एक-दूसरे के प्रति मुनियों का ऐसा वात्सल्य देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए। सुरतमुनिराज ने कहा — हे वत्स! वात्सल्य द्वारा धर्म शोभायमान होता है। धन्य है उन रत्नत्रय के धारक आचार्यदेव को — कि जिन्होंने इतनी दूर से साधर्मी के रूप में हमें याद किया। शास्त्र में कहा है कि —

ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः।
साधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले॥

अहा! धर्म के द्वारा जो भव्य जीव साधर्मीजनों के प्रति उत्तम वात्सल्य करते हैं, उनका जन्म जगत में सफल है।

प्रसन्नचित्त से भावपूर्वक बारम्बार उन मुनिराज को नमस्कार करके राजा विदा हुए तथा भव्यसेन मुनिराज के पास आये। उन्हें बहुत शास्त्रज्ञान था और लोगों में वे बहुत प्रसिद्ध थे। राजा बहुत समय तक उनके साथ रहे परन्तु उन मुनिराज ने न तो आचार्यसंघ का कोई कुशल-समाचार पूछा और न कोई उत्तम धर्माचर्चा की। मुनि के योग्य व्यवहार-आचार भी उनके ठीक नहीं थे। शास्त्रज्ञान होने पर भी शास्त्रों के अनुसार उनका आचरण नहीं था। मुनि को न करनेयोग्य प्रवृत्ति वे करते थे। यह सब प्रत्यक्ष देखने से राजा को मालूम हो गया कि भव्यसेन मुनि कितने भी प्रसिद्ध क्यों न हों, तथापि वे सच्चे मुनि नहीं। — तो फिर गुप्ताचार्य उनको क्यों याद करते। वास्तव में, उन विचक्षण आचार्य भगवान ने योग्य ही किया।

इस प्रकार सुरति मुनिराज तथा भव्यसेन मुनि को तो प्रत्यक्ष देखकर परीक्षा की। अब रेवती रानी को आचार्य महाराज ने धर्मवृद्धि

का आशीर्वाद भेजा है, इसलिए उनकी भी परीक्षा करूँ —ऐसा राजा को विचार आया।

★ ★ ★

दूसरे दिन मथुरा नगरी के उद्यान में अचानक साक्षात् ब्रह्माजी पधारे हैं। नगरजनों की भीड़ उनके दर्शन को उमड़ पड़ी तथा समस्त नगर में चर्चा होने लगी कि अहा, सृष्टि का सर्जन करने वाले ब्रह्माजी साक्षात् पधारे हैं। वे कहते हैं कि — मैं इस सृष्टि का सर्जक हूँ और दर्शन देने आया हूँ।

मूढ़ लोगों का तो कहना ही क्या ? अधिकांश लोग उन ब्रह्माजी के दर्शन कर आये। प्रसिद्ध भव्यसेन मुनि भी कौतूहलवश वहाँ हो आये, सिर्फ न गए सुरतिमुनि और न गई रेवतीरानी।

जब राजा ने साक्षात् ब्रह्मा की बात की, तब महारानी रेवती ने नि:शंकरूप से कहा — महाराज! यह ब्रह्मा हो नहीं सकते, किसी मायाचारी ने यह इन्द्रजाल रचा है, क्योंकि कोई ब्रह्मा इस सृष्टि के सर्जक हैं ही नहीं। ब्रह्मा तो अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा है अथवा भरतक्षेत्र में भगवान ऋषभदेव ने मोक्षमार्ग की रचना की है, इसलिए उन्हें ब्रह्मा कहा जाता है; इसके अतिरिक्त कोई ब्रह्मा नहीं है, जिसको मैं वन्दन करूँ।

दूसरा दिन हुआ... और मथुरा नगरी में दूसरे दरवाजे पर नाग शैय्यासहित साक्षात् विष्णु भगवान पधारे, जिन्हें अनेक शृंगार और चार हाथों में शस्त्र थे। लोगों में तो फिर हलचल मच गयी, बिना विचारे लोग दौड़ने लगे और कहने लगे कि अहा! मथुरा-नगरी का महाभाग्योदय हुआ है कि कल साक्षात् ब्रह्माजी ने दर्शन दिए और आज विष्णुभगवान पधारे हैं।

राजा को ऐसा लगा कि आज जरूर रानी चलेगी, इसलिए उन्होंने उमंगपूर्वक रानी से वह बात की — परन्तु रेवती जिसका नाम, वीतरागदेव के चरण में लगा हुआ उसका चित्त जरा भी चलायमान नहीं हुआ। श्रीकृष्ण आदि नौ विष्णु (अर्थात् वासुदेव) होते हैं, और वे नौ तो चौथे काल में हो चुके हैं। दसवें विष्णु-नारायण कभी हो नहीं सकते, इसलिए जरूर यह सब बनावटी है, क्योंकि जिनवाणी कभी मिथ्या नहीं होती। इस तरह जिनवाणी में दृढ़ श्रद्धापूर्वक, अमूढ़दृष्टि अंग से वह किञ्चित् विचलित नहीं हुई।

तीसरे दिन फिर एक नयी बात उड़ी। ब्रह्मा और विष्णु के पश्चात् आज तो पार्वतीदेवीसहित जटाधारी शंकर महादेव पधारे हैं। गाँव के लोग उनके दर्शन को उमड़ पड़े। कोई भक्तिवश गए, तो कोई कौतूहल वश गए, परन्तु जिसके रोम-रोम में वीतराग देव का निवास था, ऐसी रेवतीरानी का तो रोम भी नहीं हिला, उन्हें कोई आश्चर्य न हुआ, उन्हें तो लोगों पर दया आयी कि अरे रे! परम वीतराग सर्वज्ञदेव, मोक्षमार्ग को दिखानेवाले भगवान, उन्हें भूलकर मूढ़ता से लोग इस इन्द्रजाल से कैसे फँस रहे हैं। वास्तव में भगवान अरहन्तदेव का मार्ग प्राप्त होना जीवों को बहुत ही दुर्लभ है।

अब चौथे दिन मथुरा नगरी में तीर्थङ्कर भगवान पधारे, अद्भुत समवसरण की रचना, गन्धकुटी जैसा दृश्य और उसमें चतुर्मुखसहित तीर्थङ्कर भगवान। लोग तो फिर से दर्शन करने के लिए दौड़ पड़े। राजा को लगा कि इस बार तो तीर्थङ्कर भगवान पधारे हैं, इसलिए रेवतीदेवी जरूर साथ आवेगी।

परन्तु रेवतीरानी ने कहा कि अरे महाराज! इस समय, इस

पञ्चम काल में तीर्थङ्कर कैसे? भगवान ने इस भरतक्षेत्र में एक चौबीसी में चौबीस ही तीर्थङ्कर होना कहा है और ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक चौबीस तीर्थङ्कर होकर मोक्ष को पधार चुके हैं। यह पच्चीसवें तीर्थङ्कर कहाँ से आये? यह तो किसी मायावी का मायाजाल है। मूढ़ लोग, देव के स्वरूप का विचार भी नहीं करते और यों ही दौड़े चले जाते हैं।

बस, परीक्षा हो चुकी... विद्याधर राजा को विश्वास हो गया कि इन रेवतीरानी की जो प्रशन्सा गुप्ताचार्य ने की है, वह योग्य ही है, वह सम्यक्त्व के सर्व अङ्गों से शोभायमान हैं। क्या पवन से कभी मेरुपर्वत हिलता होगा? नहीं; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन में मेरु समान निष्कम्प सम्यग्दृष्टि जीव, कुधर्मरूपी पवन द्वारा किञ्चित्मात्र चलायमान नहीं होते। उन्हें देव-गुरु-धर्म सम्बन्धी मूढ़ता नहीं होती। वे यथार्थ पहिचान करके सच्चे वीतरागी देव-गुरु-धर्म को ही नमन करते हैं।

रेवतीरानी की ऐसी दृढ़ धर्मश्रद्धा देखकर विद्याधर को अत्यन्त प्रसन्नता हुई और वास्तविक स्वरूप में प्रगट होकर उसने कहा — हे माता! मुझे क्षमा करो। मैंने ही चार दिन तक ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि का इन्द्रजाल रचा था। गुप्ताचार्य देव ने आपके सम्यक्त्व की प्रशंसा की, इससे आपकी परीक्षा करने के लिए ही मैंने यह सब किया था। अहा! धन्य है आपकी श्रद्धा को! धन्य है! आपकी अमूढ़दृष्टि को! हे माता! आपके सम्यक्त्व की प्रशंसापूर्वक श्री गुप्ताचार्य भगवान ने आपको धर्मवृद्धि का आशीर्वाद भेजा है।

मुनिराज के आशीर्वाद की बात सुनते ही रेवतीरानी को अपार

हर्ष हुआ। हर्ष-विभोर होकर उन्होंने उस आशीर्वाद को स्वीकार किया और जिस दिशा में मुनिराज विराजते थे, उस ओर सात डग चलकर परमभक्तिपूर्वक मस्तक नमाकर मुनिराज को परोक्ष नमस्कार किया।

विद्याधर राजा ने रेवतीमाता का बड़ा सम्मान किया और उनकी प्रशन्सा करके सारी मथुरा नगरी में उनकी महिमा फैला दी। राजमाता की ऐसी दृढ़ श्रद्धा देखकर और जिनमार्ग की ऐसी महिमा देखकर मथुरा नगरी के कितने ही जीव कुमार्ग को छोड़कर जैनधर्म के भक्त बने और अनेक जीवों की श्रद्धा दृढ़ हुई। इस प्रकार जैनधर्म की महान प्रभावना हुई।

[बन्धुओं! यह कथा हमसे ऐसा कहती है कि वीतराग परमात्मा अरहन्तदेव का सच्चा स्वरूप पहिचानो और उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी देव को — साक्षात् ब्रह्मा-विष्णु-शंकर समान दिखते हों, तथापि उन्हें नमन न करो। जिनवचन से विरुद्ध किसी बात को न मानो। भले ही सारा जगत अन्यथा माने और तुम अकेले रह जाओ, तथापि जिनमार्ग की श्रद्धा नहीं छोड़ना।] ●

4. अमूढ़दृष्टि अंग का वर्णन

जिसने आत्मा के हित का सत्य मार्ग जाना है, ऐसा धर्मी जीव सच्चे-झूठे की परीक्षा में जरा भी उलझन में नहीं आता। सच्चे देव-गुरु-धर्म को तथा मिथ्यात्व देव-गुरु-धर्म को भलीभाँति पहिचानकर वह मिथ्यामार्ग की प्रशंसा भी छोड़ देता है। अन्तर में तो मिथ्यामार्ग को दुःखदायक जानकर छोड़ा ही है और मन से-वचन से तथा काया से भी वह कुमार्ग की प्रशंसा या अनुमोदना नहीं करता।

वीतरागी सर्वज्ञ अरिहन्त और सिद्ध भगवान के अतिरिक्त दूसरे किसी देव को वह नहीं मानता। रत्नत्रयधारी निर्ग्रन्थ मुनिराज के अतिरिक्त दूसरे किसी कुगुरु को वह नहीं मानता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो वीतराग धर्म, उसके अतिरिक्त दूसरे किसी धर्म को वह मोक्ष का कारण नहीं मानता और उसे सेवन नहीं करता।

इस प्रकार, देव-गुरु-धर्म सम्बन्धी मूढ़ता धर्मी को नहीं होती। कुदेव-कुगुरु-कुधर्म को माननेवाले जीव समाज में करोड़ों मूढ़ लोगों द्वारा पुजाते हों, अरे! उसके पास देव आता हो, तो भी धर्मी को मार्ग की शंका नहीं होती, तत्त्व में वह उलझन में नहीं आता। निश्चय जो अपना शुद्धात्मस्वरूप है, उसमें तो उलझन में नहीं आता और व्यवहार में अर्थात् कि देव-शास्त्र-गुरु, तत्त्व इत्यादि के निर्णय में भी वह उलझन में नहीं आता। सुख का मार्ग ऐसा वीतरागी जैनमार्ग और दुःख का मार्ग ऐसे कुमार्ग, उनकी अत्यन्त

भिन्नता पहिचानकर कुमार्ग का सेवन-प्रशंसा-अनुमोदना सर्व प्रकार से छोड़ता है और सत्यमार्ग को सेवन करता है।

कुमार्ग को माननेवाले जीव बहुत हों और सच्चे मार्ग को जाननेवाले जीव तो थोड़े ही होते हैं परन्तु इससे धर्मी उलझन में नहीं आता कि कौन सा मार्ग सत्य होगा! अरे! मैं अकेला होऊँ तो भी मेरे हित का मार्ग जो मैंने जाना है, वही परम सत्य है और ऐसा हितमार्ग बतलानेवाले वीतरागी देव-गुरु ही सत्य है; स्वानुभव से मेरा आत्मतत्त्व मैंने जान लिया है, उससे विरुद्ध जो कोई मान्यता हो, वह सब मिथ्या है। इस प्रकार, निःशंकरूप से धर्मी ने कुमार्ग की मान्यता को असंख्य प्रदेशों से छोड़ दी है। वह शुद्धदृष्टिवन्त जीव किसी भय से, आशा से, स्नेह से, या लोभ से कुदेवादि को प्रणाम-विनय नहीं करता।

अरे जीव! तुझे ऐसा मनुष्यपना मिला, ऐसे सत्य जैनधर्म का योग मिला तो अब इस अवसर में तेरी विवेकबुद्धि से सच्चे-मिथ्या की परीक्षा करके निर्णय कर; आत्मा को परम हितकर ऐसे सर्वज्ञ भगवान के मार्ग का स्वरूप समझकर उसका सेवन कर।

5

उपगूहन-अंग में प्रसिद्ध

जिनेद्रभक्त सेठ की कथा

पादलिप्तनगर में एक सेठ रहते थे; वे महान जिनभक्त थे; सम्यक्त्व के धारी थे, तथा धर्मात्माओं के गुणों की वृद्धि और दोषों का उपगूहन करने के लिए प्रसिद्ध थे। पुण्य के प्रताप से वे अपार वैभव-सम्पन्न थे। उनके सात मंजिलवाले महल के ऊपर भाग में एक अद्भुत चैत्यालय था, जिसमें रत्न से बनी हुई भगवान पार्श्वनाथ की मनोहर मूर्ति थी, जिसके ऊपर रत्नजड़ित तीन छत्र थे। उन छत्रों में एक नीलम-रत्न अत्यन्त मूल्यवान था जो अन्धकार में भी जगमगाता रहता था।

अब, सौराष्ट्र के पाटिलपुत्र नगर का राजकुमार—जिसका नाम सुवीर था तथा कुसंग के कारण जो दुराचारी और चोर हो गया था; उसने एकबार सेठ का जिनमन्दिर देखा और उसका मन ललचाया—भगवान की भक्ति से नहीं, परन्तु मूल्यवान नीलम रत्न की चोरी करने के भाव से।

उसने चोरों की सभा में घोषणा की कि जो कोई जिनभक्त सेठ के महल में से वह रत्न ले आएगा, उसे इनाम दिया जाएगा।

सूर्य नाम का एक चोर यह साहसपूर्ण कार्य करने को तैयार हो गया। उसने कहा - अरे ! इन्द्र के मुकुट में लगा हुआ रत्न भी मैं क्षणभर में ला सकता हूँ, तो इसमें कौनसी बड़ी बात है ?

लेकिन, महल में घुसकर उस रत्न को चुराना कोई सरल बात नहीं थी; वह चोर किसी भी प्रकार सफल नहीं हुआ। अन्त में वह

एक त्यागी श्रावक का वेष धारण करके सेठ के गाँव में पहुँचा। अपने वाक्-चातुर्य से, व्रत-उपवास आदि के दिखावे से, वह लोगों में प्रसिद्ध होने लगा और उसे धर्मात्मा समझकर जिनभक्त सेठ ने अपने चैत्यालय की देखभाल का काम उसको सौंपा। फिर क्या था; त्यागीजी नीलमणि को देखते ही आनन्द-विभोर हो गए और विचार करने लगे कि कब मौका मिले और मैं इसे लेकर भाग जाऊँ।

इतने में सेठ को दूसरे गाँव जाने का मौका आया और वे उस बनावटी श्रावक को चैत्यालय की देखरेख की सूचनाएँ देकर चले गए। गाँव से कुछ दूर चलकर उन्होंने पड़ाव डाला।

रात हुई, सूर्यचोर उठा, उसने नीलमणि रत्न अपने जेब में रखा और भागा, लेकिन नीलमणि का प्रकाश छिपा न रहा; वह तो अन्धकार में भी जगमगा रहा था। इससे चौकीदारों को सन्देह हुआ और उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़े। अरे! मन्दिर के नीलमणि की चोरी करके चोर भाग रहा है, पकड़ो, पकड़ो—ऐसा चारों ओर कोलाहल मच गया।

जब सूर्यचोर को बचने का कोई उपाय नहीं रहा, तब वह जहाँ जिनभक्त सेठ का पड़ाव था, उसी में घुस गया। चौकीदार उसे पकड़ने को पीछे आये। सेठ सब बात समझ गए, कि यह भाई साहब चोर हैं, लेकिन त्यागी के रूप में प्रसिद्ध यह आदमी चोर है—ऐसा लोगों को पता लगेगा तो धर्म की निन्दा होगी—ऐसा विचारकर बुद्धिमान सेठ ने चौकीदारों को डाँटते हुए कहा — अरे! तुम लोग क्या कर रहे हो? यह कोई चोर नहीं, यह तो 'सज्जन-धर्मात्मा' हैं। मैंने ही इन्हें नीलमणि लाने के लिए कहा था, तुम लोगों ने इन्हें चोर समझकर व्यर्थ हैरान किया।

सेठ की बात सुनकर चौकीदार शर्मीन्दा होकर वापस चले गए और इस प्रकार एक मूर्ख आदमी की भूल के कारण होनेवाली धर्म की निन्दा रुक गयी। — इसे उपगूहन कहते हैं। जिस प्रकार एक मेढ़क खराब होने से कहीं सारा समुद्र खराब नहीं हो जाता, उसी प्रकार किसी मूर्ख–अज्ञानी मनुष्य द्वारा भूल हो जाने से कहीं पवित्र जैनधर्म मलिन नहीं हो जाता।

जैसे माता इच्छा करती है कि मेरा पुत्र उत्तम गुणवान हो, परन्तु पुत्र में कोई छोटा–बड़ा दोष दिखायी दे तो वह उसे प्रसिद्ध नहीं करती; किन्तु ऐसा उपाय करती है कि उसके गुणों की वृद्धि हो। उसी प्रकार धर्मात्मा भी धर्म का अपवाद हो, ऐसा नहीं करते, लेकिन जिससे धर्म की प्रभावना हो, वह करते हैं। किसी गुणवान धर्मात्मा में कदाचित् कोई दोष आ जाए तो उसे गौण करके उसके गुणों की मुख्यता रखते हैं और एकान्त में बुलाकर, उन्हें प्रेम से समझाकर जिस प्रकार उनके दोष दूर हों और धर्म की शोभा बढ़े, वैसा करते हैं।

लोगों के चले जाने के बाद जिनभक्त सेठ ने भी उस सूर्य चोर को एकान्त में बुलाकर उलाहना दिया और कहा — भाई! ऐसा पापकार्य तुझे शोभा नहीं देता। विचार तो कर कि यदि तू पकड़ा गया होता तो तुझे कितना दुःख होता। अतः इस धन्धे को तू छोड़।

वह चोर भी सेठ के उत्तम व्यवहार से प्रभावित हुआ और अपने अपराध की क्षमा माँगते हुए बोला कि हे सेठ! आपने ही मुझे बचाया है, आप जैनधर्म के सच्चे भक्त हो; लोगों के सामने आपने मुझे सज्जन धर्मात्मा कहा है, तो अब मैं भी चोरी छोड़कर

सचमुच सज्जन धर्मात्मा बनने का प्रयत्न करूँगा। जैनधर्म महान है, और आप जैसे सम्यग्दृष्टि जीवों द्वारा वह शोभायमान है।

इस प्रकार सेठ के उपगूहन गुण के द्वारा धर्म की प्रभावना हुयी।

(बन्धुओ! यह कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि साधर्मी के किसी दोष को मुख्य करके धर्म की निन्दा हो, वैसा नहीं करना, परन्तु प्रेमपूर्वक समझाकर उसे दोषों से छुड़ाना चाहिए; और धर्मात्मा के गुणों को मुख्य करके उसकी प्रशंसा द्वारा धर्म की वृद्धि हो, वैसा करना चाहिए।) ●

पाप करके तुझे कहाँ जाना हैं?

दुनिया में मान-सम्मान मिले, सेठ-पद मिले, पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये इकट्ठा करे, दो-पाँच कारखाने लगाये और बड़ा उद्योगपति कहलाये, परन्तु भाई! इसमें तेरा क्या बढ़ा? पाप करके तुझे मरकर कहाँ जाना हैं? अहाहा....! जिसकी महत्ता के आगे, सिद्धपर्याय की महत्ता भी अल्प है, गौण है – ऐसा अपना त्रिकाली पूर्णानन्द सागर चैतन्य द्रव्यस्वभाव की समझ और रुचि के लिए समय नहीं निकाला; बाहर में व्रत, नियम, भक्ति, पूजा इत्यादि में धर्म मानकर रुक गया, परन्तु वह शुभभाव तो राग है, आत्मा का शुद्धभावरूप धर्म नहीं है।

5. उपगूहन अंग का वर्णन

अपने गुणों की प्रशंसा न करे और दूसरों की निन्दा न करे, साधर्मी में कोई दोष लग गया हो तो उसे ढाँके और वह दोष दूर करने के लिए प्रयत्न करे तथा गुण की–धर्म की वृद्धि हो, ऐसे उपाय करे – ऐसा भाव, वह सम्यग्दृष्टि का उपगूहन अंग है, इसे उपबृंहण भी कहा जाता है।

धर्मात्मा को निर्मानता होती है अर्थात् अपने गुण जगत में प्रसिद्ध हों और पूजे जाऐं, ऐसी भावना उसे नहीं होती तथा किसी साधर्मी के दोष प्रसिद्ध करके उसे नीचे गिराने की भावना नहीं होती परन्तु धर्म कैसे बढ़े, गुण की शुद्धि कैसे बढ़े, इसकी भावना होती है। कोई अज्ञानी या अशक्त जनों द्वारा पवित्र रत्नत्रय मार्ग की निन्दा का प्रसंग खड़ा हो तो धर्मी उसे दूर करता है, धर्म की निन्दा नहीं होने देता। दोष को दूर करना और वीतराग गुणों की वृद्धि करना, वह सम्यक्त्व का अंग है अर्थात् सम्यग्दृष्टि को ऐसा भाव सहज होता है। जैसे माता को अपना पुत्र प्रिय है; इसलिए वह उसकी निन्दा सहन नहीं कर सकती, इसलिए उसके दोष छुपाकर गुण प्रगट हो, ऐसा चाहती है; इसी प्रकार धर्मी को अपना रत्नत्रय धर्म प्रिय है, इसलिए रत्नत्रय मार्ग की निन्दा को वह सहन नहीं कर सकता। इसलिए धर्म की निन्दा दूर हो और धर्म की महिमा प्रसिद्ध हो, ऐसा उपाय वह करता है। दोष को ढाँकना – दूर करना और गुण को बढ़ाना, ये दोनों बातें पाँचवें अंग में आ जाती है। इसलिए उसे उपगूहन अथवा उपबृंहण कहा जाता है।

धर्मात्मा निजगुण को ढाँके अर्थात् बाहर में प्रसिद्धि की कामना न करे। मेरे आत्मा में मेरा काम हो रहा है, वह दूसरे को दिखाने का क्या काम है ? दूसरे लोग मेरे गुण को जाने तो ठीक – ऐसा कुछ धर्मी को नहीं है। धर्मी अपने आत्मा में तो अपने गुण की प्रसिद्धि (प्रगट अनुभूति) भलीभाँति कर, अपने सम्यक्त्वादि गुणों को स्वयं निःशंक जाने परन्तु बाहर में दूसरों से उन गुणों की प्रसिद्धि द्वारा मान-बढ़ाई प्राप्त करने की बुद्धि धर्मी को नहीं होती तथा दूसरे धर्मात्माओं के दोष को प्रसिद्ध करके उनकी निन्दा करने का या उन्हें नीचा दिखाने का भाव धर्मी को नहीं होता परन्तु उनके सम्यक्त्व आदि गुणों को मुख्य करके, उनकी प्रशंसा करता है। इस प्रकार गुण की प्रीति द्वारा अपने में गुण को बढ़ाता जाता है और अवगुण को ढाँकता है तथा प्रयत्न द्वारा उन्हें दूर करता है।

धर्मी को स्वयं को गुण सुहाते हैं और दोष नहीं सुहाते। दूसरे किसी धर्मात्मा में हीन शक्तिवश कोई दोष हो गया हो तो उसे प्रसिद्ध करके तिरस्कार नहीं करता परन्तु युक्ति से उसे सुधारता है, किन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि मिथ्यादृष्टि चाहे जैसे विपरीत कुमार्ग का प्रतिपादन करे तो भी उसकी भूल प्रसिद्ध नहीं करे! मिथ्या मतों में तत्त्व की कैसी विपरीतता है, मिथ्यादृष्टि जीव कैसी-कैसी भूल करता है, वह तो बराबर बतलावे और सत्य तत्त्व कैसा है, उसे समझावे। यदि ऐसा न करे अर्थात् कुमार्ग का खण्डन करके सत्यमार्ग का स्थापन न करे तो जीव हित का मार्ग कहाँ से जानेंगे ? सत्य-मिथ्या की पहिचान कराने से उसमें कहीं किसी की निन्दा का भाव नहीं है। जीवों के हित के लिए सत्यमार्ग की प्रसिद्धि का और असत्य के निषेध का भाव तो धर्मी को आता है।

धर्म की निन्दा होती हो, देव-गुरु की निन्दा होती हो, ऐसे प्रसंग में धर्मात्मा अपनी शक्ति से दूर करता है।

सभी धर्मी जीवों के उदयभाव एक सरीखे नहीं होते। सबकी श्रद्धा समान होती है परन्तु उदयभाव तो अनेक प्रकार के होते हैं। किसी की प्रकृति में अन्तर हो, क्रोध-मानादि दोष (भूमिकानुसार) हो जाते हों - वहाँ उनकी मुख्यता करके शासन की निन्दा नहीं होने दे! वह तो धर्मात्मा है, जिनेश्वरदेव का भक्त है, आत्मा का अनुभवी है, सम्यग्दृष्टि है - ऐसे गुण को मुख्य करके, दोष को गौण कर डालता है, धर्म की या धर्मात्मा की निन्दा नहीं होने देता। अहा! यह तो परम पवित्र जैनमार्ग... अकेली वीतरागता का मार्ग! कोई अज्ञानीजन उसकी निन्दा करे, इससे कहीं वह मलिन नहीं हो जाता। ऐसे मार्ग की श्रद्धा में सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त निष्कम्प वर्तता है। तलवार की तीक्ष्ण धार जैसी उसकी श्रद्धा, मिथ्यात्व की कुयुक्तियों को नष्ट कर डालती है। किन्हीं भी कुयुक्तियों द्वारा उसकी श्रद्धा चलायमान नहीं होती। ऐसे मार्ग को जानकर जो धर्मी हुआ है, ऐसे जीव को कोई दोष हो जाए तो उसके उपगूहन की यह बात है। जहाँ गुण और दोष दोनों हों, उनमें गुण की मुख्यता करके दोष को गौण करना, वह उपगूहन है परन्तु जहाँ सच्चा मार्ग हो ही नहीं और मिथ्यामार्ग को ही धर्म मनवा रहे हों, उसे तो जगत के हित के लिए प्रसिद्ध करके बतावे कि यह मार्ग मिथ्या है, दुःखदायक है, इसलिए इसका सेवन छोड़ो और परम सत्य वीतराग जैनमार्ग का सेवन करो! अपने में भी रत्नत्रय धर्म की शुद्धि जैसे बढ़े, वैसे करे। दुनिया से मुझे काम नहीं है, मुझे तो आत्मा में शुद्धता बढ़े और वीतरागता हो, यही प्रयोजन है। ऐसी

भावनापूर्वक धर्मी अपने में धर्म की वृद्धि करता है, उसे उपबृंहण गुण कहा जाता है।

धर्मी जानता है कि मेरे गुण मुझमें हैं, मेरी अनुभूति में मेरा आत्मा प्रसिद्ध हुआ है – उसे मैं जानता हूँ, दुनिया को दिखलाने का क्या काम है ? क्या दुनिया माने, इससे कहीं मेरे गुण की शुद्धि बढ़ती है ? और दुनिया न देखे, इससे मेरे गुण की शुद्धि रुक जाती है ? —नहीं; मेरे गुण तो मुझमें है। इस प्रकार धर्मी अपने गुण का ढिंढ़ोरा जगत में नहीं पीटता। कोई धर्मात्मा के गुणों की सहज प्रसिद्धि हो, वह अलग बात है, परन्तु धर्मी को तो अपने में ही समा जाने की भावना है। दुनिया में बाहर प्रसिद्धि का क्या काम है ? दुनिया स्वीकार करे तो ही मेरे गुण सच्चे–ऐसा कुछ नहीं और दुनिया स्वीकार न करे, इससे कहीं मेरे गुण को नुकसान नहीं हो जाता। मेरे गुण कहीं मैंने दुनिया से नहीं लिये हैं। मेरे आत्मा में से ही गुण प्रगट किये हैं। इसलिए मेरे गुण में दुनिया की अपेक्षा मुझे नहीं है। इस प्रकार धर्मी जगत से उदास और निज गुण में निःशंक वर्तता है।

किसी को विशेष जातिस्मरणादि ज्ञान हो, ज्ञान की शुद्धि के साथ लब्धियाँ भी प्रगट हो, बहुत मुनियों को विशेष लब्धियाँ प्रगटे, अवधि–मनःपर्ययज्ञान भी हो, तथापि जगत को उनकी खबर भी नहीं पड़ती। वे तो अपने आत्मा की साधना में तल्लीन वर्तते हैं। अपने गुणों की प्रसिद्धि हुई, वहाँ आत्मा स्वयं अपने से ही सन्तुष्ट और तृप्त है। अपने गुण के शान्तरस को स्वयं वेदन कर ही रहा है, वहाँ दूसरे को बतलाने का क्या काम है ? और दूसरे जीव भी वैसी अन्तर्दृष्टि बिना गुण को कहाँ से पहिचानेंगे ? इस प्रकार

धर्मी अपने गुणों को अपने में गुप्त रखता है और दूसरे साधर्मी के दोष को भी गोपन करके उस दोष को दूर करने का उपाय करता है।

भाई! किसी के अवगुण प्रसिद्ध हों, इससे तुझे क्या लाभ है? और उसके अवगुण प्रसिद्ध न हों, इससे तुझे क्या नुकसान है? 'भैंस के सींग भैंस को भारी' 'जो करेगा, वह भोगेगा' - इसी प्रकार सामनेवाले के गुण-दोष का फल उसे है, उसमें तुझे क्या है? इसलिए समाज में जिस प्रकार से धर्म की निन्दा न हो और प्रभावना हो तथा अपने गुणों में वृद्धि हो, उस प्रकार से धर्मी प्रवर्तन करता है।

किसी साधर्मी से कोई दोष हो गया हो और ख्याल में आ जाए तो उसका अनादर नहीं करता, तिरस्कार नहीं करता परन्तु गुप्तरूप से बुलाकर प्रेम से समझाता है कि देख भाई! अपना जैनधर्म तो महान पवित्र है। महाभाग्य से ऐसा धर्म मिला है। उसमें तुझसे ऐसा दोष हो गया परन्तु तू दुविधा में मत आना, तेरे आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान में दृढ़ रहना। जिनमार्ग महापवित्र है, अत्यन्त भक्ति से उसकी आराधना द्वारा तुझमें दोष को छेद डालना। इस प्रकार प्रेम से उसे धर्म का उत्साह जगाकर उसके दोष दूर कराता है। दोष को छुपाने में कहीं उसे दोष को पोषण देने का हेतु नहीं है, परन्तु तिरस्कार से वह जीव निरुत्साहित न हो जाए और बाहर में धर्म की निन्दा न हो, यह हेतु है तथा गुण की प्रीति द्वारा शुद्धता का हेतु है। ऐसा धर्मी का उपगूहन तथा उपबृंहण अंग है।

6

स्थितिकरण–अंग में प्रसिद्ध

वारिषेण मुनि की कथा

महावीर भगवान के समय में राजगृही नगरी में श्रेणिक राजा राज्य करते थे। चेलनादेवी उनकी महारानी और वारिषेण उनका पुत्र था। वारिषेण के अति सुन्दर बत्तीस रानियाँ होते हुए भी वह बहुत वैरागी तथा आत्मज्ञान धारक था।

एकबार राजकुमार वारिषेण उद्यान में ध्यान कर रहे थे, इतने में विद्युत नाम का चोर एक मूल्यवान हार की चोरी करके भाग रहा था; उसके पीछे सैनिक भाग रहे थे। 'मैं पकड़ा जाऊँगा'—इस डर के कारण हार को वारिषेण के आगे फैंककर वह चोर छिप गया, राजकुमार को ही चोर समझकर राजा ने फाँसी की सजा दी, परन्तु जब बधिक ने राजकुमार पर तलवार चलायी, तब वारिषेण के गले में तलवार के बदले पुष्पों की माला हो गयी, तथापि राजकुमार तो मौनरूप से ध्यान में ही थे।

ऐसा चमत्कार देखकर चोर को पश्चाताप हुआ। उसने राजा से कहा कि मैं हार का चोर हूँ, मैंने ही हार की चोरी की थी, यह राजकुमार तो निर्दोष हैं। इस बात को सुनकर राजा ने राजकुमार से क्षमा माँगी और राजमहल में आने को कहा।

परन्तु वैरागी वारिषेणकुमार ने कहा —पिताजी! इस असार संसार से अब जी भर गया है; राजपाट में कहीं भी मेरा मन नहीं लगता, मेरा चित्त तो एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही साधने में मग्न है, अब मैं दीक्षा ग्रहण करके मुनि होऊँगा। ऐसा कहकर एक

मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ग्रहण की और आत्मा को साधने में मग्न हो गए।

अब, राजमन्त्री का पुत्र पुष्पडाल था, वह बचपन से ही वारिषेण का मित्र था और उसका विवाह अभी कुछ दिन पहले हुआ था; उसकी स्त्री बहुत सुन्दर नहीं थी। एकबार वारिषेण मुनि घूमते-घूमते पुष्पडाल के यहाँ पहुँचे और पुष्पडाल ने विधिपूर्वक आहारदान दिया... इस अवसर पर अपने मित्र को धर्म प्राप्त कराने की भावना मुनिराज को जागृत हुई। आहार करके मुनिराज वन की ओर जाने लगे, विनयवश पुष्पडाल भी उनके पीछे-पीछे गया। कुछ दूर चलने के बाद उसको ऐसा लगा कि अब मुनिराज मुझे रुकने को कहें और मैं घर पर जाऊँ, लेकिन मुनिराज तो चले ही जाते हैं तथा मित्र से कहते ही नहीं कि अब तुम रुक जाओ!

पुष्पडाल को घर पहुँचने की आकुलता होने लगी। उसने मुनिराज को स्मरण दिलाने के लिए कहा कि बपचन में हम इस तालाब और आम के पेड़ के नीचे साथ खेलते थे, यह वृक्ष गाँव से दो-तीन मील दूर है, हम गाँव से बहुत दूर आ गए हैं।

— यह सुनकर भी वारिषेण मुनि ने उसे रुक जाने को नहीं कहा। अहा! परम हितैषी मुनिराज, मोक्षमार्ग को छोड़कर संसार जाने कैसे कहें? मुनिराज की तो यही भावना है कि मेरा मित्र भी मोक्षमार्ग में मेरे साथ ही आये —

हे सखा, चल न हम साथ चलें मोक्ष में,
छोड़े परभाव को झूलें आनन्द में;

जाऊँ मैं अकेला और तुझे छोड दूँ?
चल न तू भी मेरे साथ ही मोक्ष में।

अहा, मानों अपने पीछे-पीछे चलनेवाले को मोक्ष में ले जा रहे हों — इस प्रकार परम निस्पृहता से मुनि तो आगे ही आगे चले जा रहे हैं। पुष्पडाल भी सङ्कोचवश उनके पीछे-पीछे चला जा रहा है।

चलते-चलते वे आचार्य महाराज के पास पहुँचे और वारिषेण-मुनि ने कहा — प्रभो! यह मेरा बचपन का मित्र है, और संसार से विरक्त होकर आपके पास दीक्षा लेने आया है। आचार्य महाराज ने उसे निकट भव्य जानकर दीक्षा दे दी। अहा, सच्चा मित्र तो वही है जो जीव को भव-समुद्र से पार करे।

मित्र के आग्रहवश पुष्पडाल यद्यपि मुनि हो गया और बाह्य में मुनि के योग्य क्रियायें भी करने लगा, परन्तु उसका चित्त अभी भी संसार से छूटा न था। भावमुनिपना अभी उसे नहीं हुआ था; प्रत्येक क्रिया करते समय उसे अपने घर की याद आती थी। सामायिक करते समय भी बार-बार उसे अपनी पत्नी का स्मरण होता था। वारिषेणमुनि उसके मन को स्थिर करने के लिए उसके साथ ही रहकर उसे निरन्तर उत्तम ज्ञान-वैराग्य का उपदेश देते थे, परन्तु पुष्पडाल का मन अभी धर्म में स्थिर नहीं हुआ था।

ऐसा करते-करते 12 वर्ष बीत गए। एकबार वे दोनों मुनिवर महावीर भगवान के समवसरण में बैठे थे, उस समय इन्द्रों ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा कि — हे नाथ! इस राज-पृथ्वी को छोड़कर आप मुनि हुए, जिससे पृथ्वी अनाथ होकर आपके विरह में झूरती है और उसके आँसू इस नदी के रूप में बह रहे हैं।

अहा! इन्द्र ने तो स्तुति द्वारा भगवान के वैराग्य की स्तुति की लेकिन जिसका चित्त अभी वैराग्य में नहीं लगा था, उस पुष्पडाल को तो वह श्लोक सुनकर ऐसा लगा कि अरे! मेरी स्त्री भी इस पृथ्वी की भाँति 12 वर्ष से मेरे बिना दुःखी होती होगी। मैंने बारह वर्ष से उसका मुँह भी नहीं देखा, मुझे भी उसके बिना चैन नहीं पड़ता; इसलिए चलकर उसकी खबर ले आऊँ। कुछ समय और उसके साथ रहकर फिर दीक्षा ग्रहण कर लूँगा।

— ऐसा विचारकर पुष्पडाल तो किसी से पूछे–ताछे बिना घर की घर चल दिया। वारिषेण मुनि उसकी गतिविधि को समझ गये; हृदय में मित्र के प्रति धर्मवात्सल्य की भावना जागृत हुयी कि किसी प्रकार मित्र को धर्म में स्थिर करना चाहिए। — ऐसा विचार कर वह भी उसके साथ चल दिए, और उसे साथ लेकर अपने राजमहल में आये।

मित्रसहित अपने पुत्र को महल में आया देखकर चेलना रानी को आश्चर्य हुआ कि क्या वारिषेण, मुनिदशा का पालन न कर सकने से वापिस आया है।—ऐसा उन्हें सन्देह हुआ। उसकी परीक्षा के लिए एक सोने का आसन और एक लकड़ी का आसन रखा, लेकिन वैरागी वारिषेणमुनि तो वैराग्यपूर्वक लकड़ी के आसन पर बैठ गये। इससे विचक्षण चेलनादेवी समझ गयी कि पुत्र का मन तो वैराग्य में दृढ़ है, उसके आगमन का अन्य कोई प्रयोजन होगा।

वारिषेणमुनि के आगमन से गृहस्थाश्रम में रही हुईं 32 रानियाँ उनके दर्शन करने को आयीं। राजमहल का अद्भुत वैभव और ऐसी सुन्दर 32 रानियों को देखकर पुष्पडाल तो आश्चर्य में पड़

गया, कि अरे! ऐसा राजवैभव और ऐसी 32 रानियों के होने पर भी राजकुमार उनकी ओर देखते ही नहीं। उनका त्याग कर देने के बाद उनका स्मरण भी नहीं करते। आत्मसाधना में अपना चित्त जोड़ दिया है। वाह, धन्य है इन्हें! और मैं एक साधारण स्त्री का मोह भी नहीं छोड़ सकता। अरे! मेरा बारह-बारह वर्ष का साधुपना व्यर्थ गया।

वारिषेणमुनि ने पुष्पडाल से कहा — हे मित्र! अब भी तुझे संसार का मोह हो तो तू यहीं रुक जा और इस वैभव का उपभोग कर! अनादि काल से जिस संसार को भोगते हुए तृप्ति न हुयी, उसे तू अब भी भोगना चाहता है, तो ले, तू इस सबका उपभोग कर। वारिषेणमुनि की बात सुनकर पुष्पडाल अत्यन्त लज्जित हुआ, उसकी आँखें खुल गईं और उसका आत्मा जागृत हो गया।

राजमाता चेलना सब परिस्थति समझ गईं और पुष्पडाल को धर्म में स्थिर करने हेतु बोली — अरे मुनिराज! आत्मा-साधना का ऐसा अवसर बारम्बार प्राप्त नहीं होता; इसलिए तुम अपना चित्त मोक्षमार्ग में लगाओ। यह सांसारिक भोग तो इस जीव ने अनन्त बार भोगे हैं, इनमे किञ्चित् सुख नहीं है; इसलिए इनका मोह छोड़कर मुनिधर्म में अपने चित्त को स्थिर करो।

वारिषेण मुनिराज ने भी ज्ञान-वैराग्य का सुन्दर उपदेश दिया और कहा कि हे मित्र! अब अपने चित्त को आत्मा की आराधना में दृढ़ करो और मेरे साथ मोक्षमार्ग में चलो।

पुष्पडाल ने कहा — प्रभो! आपने मुझे मुनिधर्म से डिगते हुए बचाया है, और सच्चा बोध देकर मोक्षमार्ग में स्थिर किया है; अतः

आप सच्चे मित्र हैं। आपने धर्म में स्थितिकरण करके महान उपकार किया है। अब मेरा मन सांसारिक भोगों से वास्तव में उदास होकर आत्मा के रत्नत्रयधर्म की आराधना में स्थिर हुआ है। अब मुझे स्वप्न में भी इस संसार की इच्छा नहीं है। अब तो अन्तर में लीन होकर आत्मा के चैतन्यवैभव की साधना करूँगा।

इस प्रकार प्रायश्चित करके पुष्पडाल फिर से मुनिधर्म में स्थिर हुआ और दोनों मुनि, वन की ओर चल दिए।

(वारिषेण मुनिराज की कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि — कोई भी साधर्मी-धर्मात्मा कदाचित् शिथिल होकर धर्ममार्ग से डिगता हो तो उसका तिरस्कार न करके, प्रेमपूर्वक उसे धर्ममार्ग में स्थिर करना चाहिए। सर्व प्रकार से उसकी सहायता करनी चाहिए। धर्म का उल्लास जागृत करके, जैनधर्म की महिमा समझाकर या वैराग्य द्वारा उसे धर्म में स्थिर करना चाहिए। तथा अपने आत्मा को भी धर्म में विशेष-विशेष स्थिर करना चाहिए। कैसी भी प्रतिकूलता आये परन्तु धर्म से नहीं डिगना।) ●

जहाँ दुःख कभी न प्रवेश रुकता,
वहाँ निवास ही राखिये;
सुखस्वरूप निज आत्म को बस,
ज्ञाता होकर झाँकिये॥

6. स्थितिकरण अंग का वर्णन

किसी कषायवश, रोगादि की तीव्र वेदनावश, कुसंग से, लोभ से और अनेकविध प्रतिकूलता के प्रसंग में धर्मी जीव श्रद्धा से अथवा चारित्र से च्युत होता हो अथवा शिथिल होता हो तो प्रेमपूर्वक वैराग्य-उपदेश से अथवा दूसरे अनेक उपायों से उसे धर्म में स्थिर करना, अपने आत्मा को भी धर्म में दृढ़ करना और दूसरे साधर्मी को भी धर्म में दृढ़ करना - यह स्थितिकरण है।

शरीर में कोई रोग आवे, अचानक बड़ा नुकसान हो जाए, स्त्री-पुत्रादि की मृत्यु हुई हो, विषयों से मन चलित होता हो, कोई विशेष मान-अपमान का प्रसंग बना हो, वहाँ अपने परिणाम को शिथिल होता देखे तो धर्मात्मा तुरन्त ज्ञान-वैराग्य की भावना द्वारा अपने आत्मा को धर्म में दृढ़ करे कि अरे आत्मा! यह तुझे क्या हुआ? ऐसा महा पवित्र रत्नत्रय धर्म प्राप्त करके ऐसी कायरता तुझे शोभा नहीं देती। तू कायर मत हो। अन्तर में शुद्ध आत्मस्वरूप देखा है, उसकी बारम्बार भावना कर। संसार के दुर्ध्यान द्वारा तो अनन्त बार नरकादि के तीव्र दुःख तूने भोगे हैं; इसलिए अब दुर्ध्यान छोड़ और चैतन्य की भावना भा। इस प्रकार अनेक प्रकार के चिन्तवन से अपने आत्मा को धर्म में स्थिर करे तथा दूसरे साधर्मीजनों को भी अपने ही समझकर सर्व प्रकार की सहायता से धर्म में स्थिर करे। ऐसा भाव धर्मात्मा को होता है। किसी को उपदेश द्वारा उत्साहित करे, किसी को धन से भी मदद करे, किसी की शरीर से सेवा करे, किसी को धैर्य प्रदान करे, किसी को

अध्यात्म की महान चर्चा सुनावे—ऐसे सर्व प्रकार से तन से-मन से-धन से-ज्ञान से धर्मात्मा की उलझन मिटाकर उसे धर्म में दृढ़ करे।

अरे! अनन्त काल में ऐसा मनुष्यभव और जैनधर्म मिला, उसे चूक जाएगा तो फिर से अनन्त काल में ऐसा अवसर मिलना कठिन है। अभी जरा सी प्रतिकूलता के दुःख से डरकर यदि धर्म की आराधना चूक जाएगा तो संसार में नरकादि के अनन्त दुःखों के समक्ष तो यह प्रतिकूलता कुछ हिसाब में ही नहीं है। इसलिए कायर होकर आर्तपरिणाम मत करो, वीर होकर धर्मध्यान में दृढ़ रहो। आर्तध्यान से तो दुःख अधिक होगा। संसार में तो प्रतिकूलता होती ही है, इसलिए धैर्यपूर्वक धर्मध्यान में दृढ़ रहो। तुम तो मुमुक्षु हो, धर्म के ज्ञाता है, ज्ञानवान हो तो इस प्रसंग में दीन होना शोभा नहीं देता; वीरतापूर्वक आत्मा को सम्यक्त्वादि की भावना में दृढ़ रूप से जोड़ो... पूर्व में अनेक महापुरुष—पाण्डव, सीताजी इत्यादि हुए, उन्हें स्मरण करके आत्मा को धर्म की आराधना में उत्साहित करो। इस प्रकार अपने तथा पर के आत्मा को सम्बोधन करके धर्म में स्थिर करता है, यह सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अंग है। जहाँ प्रतिकूलता आवे, वहाँ उलझन में न आ जाए तथा दूसरे साधर्मी को उलझन में न आने दे। अरे! मरण आवे या चाहे जितनी प्रतिकूलता आवे परन्तु मैं मेरे धर्म से च्युत नहीं होऊँ, मेरे आत्मा की आराधना को नहीं छोड़ूँ - इस प्रकार धर्मी निःशंकरूप से दृढ़ परिणाम से अपने आत्मा को धर्म में स्थिर रखता है। कोई भय बतावे, लालच बतावे तो भी वह धर्म से च्युत नहीं होता। जो जीव, मोक्ष का साधक हुआ, उसके आत्मपरिणाम में ऐसी दृढ़ता होती है।

सम्यग्दृष्टि की सम्यक्त्वादि निश्चयधर्म में जितनी स्थिरता है, उतना धर्म है, वह वीतरागभाव है और दूसरे साधर्मी को धर्म में स्थिर करने का जो भाव है, वह शुभभाव है, वह कहीं धर्म नहीं परन्तु धर्मी को धर्म-प्रेम का ऐसा भाव आता है। श्रेणिक राजा के पुत्र वारिषेण मुनि ने अपने मित्र का मुनिपने में स्थितिकरण किया, उसकी कथा आपने पढ़ी ही है। इस प्रकार स्थितिकरण अंग का वर्णन किया।

7

वात्सल्य- अंग में प्रसिद्ध

विष्णकुमार मुनि की कथा

लाखों वर्ष पुरानी मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर के समय की यह बात है। उज्जैन नगरी में तब श्रीवर्मा नाम के राजा राज्य करते थे। उनके बलि आदि चार मन्त्री थे; जो धर्म की श्रद्धा से रहित-नास्तिक थे।

एकबार उज्जैन नगरी में सात सौ मुनियों के संघसहित अकम्पनाचार्य पधारे। लाखों नगरजन मुनियों के दर्शनार्थ गए; राजा को भी उनके दर्शनों की अभिलाषा हुई और मन्त्रियों को भी साथ चलने का कहा। यद्यपि बलि आदि मिथ्यादृष्टि मन्त्रियों को जैन मुनियों के प्रति श्रद्धा नहीं थी, परन्तु राजा की आज्ञा होने से उन्हें भी साथ जाना पड़ा।

राजा ने मुनियों को वन्दन किया परन्तु ज्ञान-ध्यान में लीन मुनिराज तो मौन थे। मुनियों की ऐसी शान्ति और निस्पृहता देखकर राजा तो प्रभावित हुआ परन्तु मन्त्रियों को अच्छा नहीं लगा; वे दुष्टभाव से कहने लगे कि—महाराज! इन जैन मुनियों को कुछ भी ज्ञान नहीं है, इसलिए ये मौन रहने का ढोंग करते हैं।—इस प्रकार निन्दा करते हुए चले जा रहे थे कि रास्ते में श्रुतसागर नाम के मुनि मिले, उनसे मुनिसंघ की निन्दा सहन नहीं हुयी, इसलिए मन्त्रियों के साथ वाद-विवाद किया। रत्नत्रयधारक मुनिराज ने अनेकान्त-सिद्धान्त के न्यायों द्वारा मन्त्रियों की कुयुक्तियों का खण्डन करके उन्हें मौन कर दिया। राजा की उपस्थिति में हार जाने से मन्त्रियों को अपमान लगा।

अपमान तथा क्रोध से भरे हुए वे पापी मन्त्री रात्रि के समय मुनि को मारने गये। ध्यान में लीन मुनिराज पर तलवार उठाकर जहाँ मारने को उद्यत हुए कि वहाँ अचानक उनके हाथ जहाँ के तहाँ रह गए। अरे! प्रकृति भी ऐसी हिंसा नहीं देख सकी। तलवार उठाया हुआ हाथ ज्यों का त्यों रह गया और उनके पैर जमीन से चिपक गए।

प्रातःकाल लोगों ने यह दृश्य देखा। जब राजा को मन्त्रियों की दुष्टता की खबर पड़ी, तब राजा ने उन्हें गधेपर बैठाकर नगर से बाहर निकाल दिया। युद्ध-कला में प्रवीण बलि आदि मन्त्री घूमते -फिरते हस्तिानपुर पहुँचे और वहाँ राजा के मन्त्री बन गए।

हस्तिनापुर नगरी भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथ इन तीर्थ तीर्थङ्करों की जन्मभूमि है। यह घटना जब घटित हुयी, उस समय हस्तिनापुर में चक्रवर्ती के पुत्र पद्मराजा राज्य करते थे। उनके भाई मुनि हो गए थे, उनका नाम विष्णुकुमार था। वे आत्म के ज्ञान-ध्यान में मग्न रहते थे। उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो गयी थीं, परन्तु ऋद्धियों के प्रति उनका लक्ष्य नहीं था। उनका लक्ष्य तो केवलज्ञानलब्धि साधने पर केन्द्रित था।

सिंहरथ नाम का एक राजा, हस्तिनापुर के राजा का शत्रु था और बहुत समय से परेशान करता था। पद्मराजा उसे जीत नहीं पाते थे। अन्त में बलि मन्त्रि ने युक्तिपूर्वक उसे जीत लिया। इससे प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें वचन माँगने को कहा, लेकिन बलि ने कहा—जब आवश्यकता होगी, तब माँग लेंगे।

इधर अकम्पन आचार्य सात सौ मुनियों के संघसहित देश में विहार करते-करते तथा भव्य जीवों को वीतरागी धर्म का उपदेश

देते–देते हस्तिनापुर में आए। अकम्पन मुनिराज को देखकर बलि मन्त्री भयभीत हो उठा। उसे डर लगा कि इन मुनियों के द्वारा यदि हमारा उज्जैन का पाप प्रगट हो जाएगा, तो यहाँ से भी राजा हमें अपमानित करके निकाल देगा। क्रोधवश अपने वैर का बदला लेने के लिए वे मन्त्री विचार करने लगे।

अन्त में उन पापी जीवों ने सब मुनियों को जीवित ही जला देने की एक दुष्ट योजना बनायी। राजा के पास जो वचन माँगना बाकी था, वह उन्होंने माँगा और कहा — हे महाराज! हमें एक महान यज्ञ करना है, इसलिए हमें सात दिन के लिए राज्य दीजिए।

अपने वचन का पालन करने के लिए राजा ने उन मन्त्रियों को सात दिन के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं राजमहल में जाकर रहने लगे।

बस! राज्य हाथ में आते ही उन दुष्ट मन्त्रियों ने 'नरबलि यज्ञ' करने की घोषणा की... और जहाँ मुनि विराजमान थे, उनके चारों ओर हिंसा के लिए पशु, दुर्गन्धमय हड्डियाँ, माँस, चमड़े के ढ़ेर लगा दिए और उन्हें प्रज्ज्वलित करके बड़ा कष्टप्रद वातावरण बना दिया। मुनियों के चारों ओर अग्नि की लपटें उठने लगीं और इस प्रकार मुनियों पर घोर उपसर्ग आ पड़ा।

...परन्तु मोक्ष के साधक वीतरागी मुनि! अग्नि के बीच भी शान्ति से आत्मा के वीतरागी अमृतरस का पान कर रहे थे। बाहर भले अग्नि जल रही थी, परन्तु उन्होंने अन्तर में रञ्चमात्र भी क्रोधाग्नि प्रगट न होने दी। अग्नि की लपटें उनके समीप चली आ रही थी; लोगों में चारों ओर हाहाकार मच गया। हस्तिनापुर के

जैनसंघ को बड़ी चिन्ता और दुःख हो रहा था। मुनियों का उपसर्ग दूर न हो, तब तक के लिए सब श्रावकों ने अन्न-जल का त्याग कर दिया।

अरे, मोक्ष के साधक सात सौ मुनियों के ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग देखकर प्रकृति भी प्रकम्पित हो उठी! आकाश में श्रवण, नक्षत्र मानो काँप रहा हो! — ऐसा एक क्षुल्लकजी ने देखा और उनके मुख से हाहाकार निकल पड़ा। उन्होंने आचार्य से बात की। आचार्य महाराज ने निमित्तज्ञान से जानकर कहा कि —अरे! इस समय हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों के संघ पर बलिराजा घोर उपसर्ग कर रहा है और मुनियों का जीवन भय में है।

क्षुल्लकजी ने पूछा — प्रभो! उन्हें बचाने का कोई उपाय?

आचार्य ने कहा — हाँ, विष्णुकुमार मुनि उनका उपसर्ग दूर कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें ऐसी विक्रियाऋद्धि प्रगट हुई है कि वे अपना रूप जितना बनाना चाहें बना सकते हैं, परन्तु वे अपनी आत्मसाधना में लीन हैं, उन्हें अपनी ऋद्धि की और मुनियों के उपसर्ग की खबर भी नहीं है।

यह बात सुनकर आचार्य की आज्ञा लेकर क्षुल्लकजी शीघ्र ही विष्णुकुमार मुनि के पास गए और उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया तथा प्रार्थना की कि हे नाथ! आप विक्रियाऋद्धि द्वारा मुनियों के इस उपसर्ग को शीघ्र दूर करें।

यह बात सुनते ही विष्णुकुमार मुनि के अन्तर में सात सौ मुनियों के प्रति परम वात्सल्यभाव प्रगट हुआ। विक्रियाऋद्धि की परीक्षा हेतु उन्होंने अपना हाथ लम्बा किया तो वह मानुषोत्तर पर्वत तक समस्त मनुष्यलोक में फैल गया। वे शीघ्र ही हस्तिनापुर आ

पहुँचे और अपने भाई से — जो कि हस्तिनापुर का राजा था — कहा–अरे, भाई! तेरे राज्य में यह क्या अनर्थ हो रहा है?

पद्मराजा ने कहा — प्रभो! मैं लाचार हूँ, अभी मेरे हाथ में शासन की बागडोर नहीं है।

अपने भाई से सारी कहानी सुनकर विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा के हेतु कुछ समय के लिए मुनिपना छोड़कर एक वामन (ठिगने) ब्राह्मण पण्डित का रूप धारण किया और बलिराजा के पास जाकर अत्यन्त मधुर स्वर में उत्तम श्लोक बोलने लगे।

बलिराजा उनके दिव्य रूप और मधुर वाणी से अत्यन्त प्रभावित हुआ और कहने लगा कि आपने आकर हमारे यज्ञ की शोभा में वृद्धि की है, जो चाहें माँग लें; —ऐसा कहकर बलिराजा ने विद्वान ब्राह्मण का सम्मान किया।

अहा! अचानक मुनिवर, जगत के साथ... उन्हें अपने सात सौ साधर्मियों की रक्षा के हेतु याचक बनना पड़ा। ऐसा है धर्म वात्सल्य! मूर्ख राजा को कहाँ खबर थी कि वह जिन्हें याचना करने को कह रहा था, वे ही मुनिराज उसे धर्म प्रदान करके हिंसा के घोर पाप से छुड़ायेंगे।

ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार मुनि ने राजा से तीन डग धरती माँगी। राजा ने प्रसन्न होकर धरती माप लेने को कहा। बस, हो चुका!

राजा ऊपर देखता है इतने में तो विष्णुकुमार ने अपने वामन शरीर के बदले विराट रूप धारण कर लिया। विष्णुकुमार मुनि का विराटस्वरूप देखकर राजा चकित हो गया। उसकी समझ में नहीं आया कि यह क्या हो रहा है।

विराटस्वरूप विष्णु मुनिराज ने एक पैर मनुष्यलोक के एक छोर पर और दूसरा दूसरे छोर पर रखकर बलिराजा से कहा — बोल, अब तीसरा पैर कहाँ रखूँ? तीसरा पैर रखने की जगह दे, नहीं तो तेरे सिर पर रखकर तुझे पाताल में उतारे देता हूँ।

मुनिराज की विक्रियाऋद्धि से चारों ओर कोलाहल मच गया, सारा ब्रह्माण्ड काँप उठा। देवों और मनुष्यों ने आकर विष्णुकुमार मुनि की स्तुति की और विक्रिया समेट लेने की प्रार्थना की। बलि-राजा तथा चारों मन्त्री मुनिराज के चरणों में गिरकर अपनी भूल की क्षमा माँगने लगे — प्रभु क्षमा करो! हमने आपको पहिचाना नहीं।

विष्णु मुनिराज ने क्षमापूर्वक उन्हें अहिंसाधर्म का स्वरूप समझाया तथा जैन मुनियों की वीतरागी क्षमा की महिमा बतलाकर आत्महित का परम उपदेश दिया। उसे सुनकर उनका हृदय-परिवर्तन हो गया और घोर पाप की क्षमा माँग कर उन्होंने आत्महित का मार्ग ग्रहण किया। अहा! विष्णुकुमार की विक्रियाऋद्धि बलि आदि मन्त्रियों को धर्म-प्राप्ति का कारण बन गयी। उन जीवों ने अपने परिणाम क्षणभर में बदल लिए। अरे! ऐसे शान्त-वीतरागी मुनियों पर हमने ऐसा उपसर्ग किया, हमें धिक्कार है! ऐसे पश्चातापपूर्वक उन्होंने जैनधर्म अङ्गीकार किया। इस प्रकार मुनिराज ने बलिराजा आदि का उद्धार किया और सात सौ मुनियों की रक्षा की।

चारों ओर जैनधर्म की जय-जयकार होने लगी। शीघ्र ही वह हिंसक यज्ञ रोक दिया गया। मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ और श्रावक परम भक्तिभाव से मुनियों की सेवा में लग गए। विष्णुकुमार ने स्वयं वहाँ जाकर मुनियों की वैयावृत्त्य की और मुनियों ने भी विष्णुकुमार के वात्सल्य की प्रशंसा की। अहा! वात्सल्य का वह

दृश्य अद्भुत था। बलि आदि मन्त्रियों ने भी मुनियों के पास जाकर क्षमा माँगी और भक्तिभाव से मुनियों की सेवा की।

उपसर्ग दूर हुआ, इसलिए वे मुनि आहार के लिए हस्तिनापुर नगरी में पधारे। हजारों श्रावकों ने अतिशय भक्तिपूर्वक मुनियों को आहारदान दिया; उसके बाद श्रावकों ने भोजन ग्रहण किया। देखो, श्रावकों को भी कितना धर्म प्रेम था! धन्य वे श्रावक और धन्य वे साधु।

जिस दिन यह घटना हुयी, उस दिन श्रावण शुक्ला पूर्णिमा थी। विष्णुकुमार मुनिराज के महान वात्सल्य के कारण सात सौ मुनियों की रक्षा हुयी, जिससे यह दिवस रक्षापर्व के रूप में प्रसिद्ध हुआ और वह आज भी मनाया जाता है।

मुनिरक्षा का कार्य पूर्ण होने पर श्री विष्णुकुमार ने वेष छोड़कर फिर से निर्ग्रन्थ मुनिदशा धारण की और ध्यान द्वारा अपने आत्मा को शुद्ध रत्नत्रयधर्म के साथ अभेद करके ऐसा वात्सल्य किया कि अल्प काल में केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष पधारे।

[विष्णुकुमार मुनिराज की कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि धर्मात्मा साधर्मीजनों को अपना बन्धु मानकर उनके प्रति अत्यन्त प्रीतिरूप वात्सल्य रखना चाहिए, उनके प्रति आदर-सम्मानपूर्वक हर प्रकार से उनकी सहायता करनी चाहिए, उन पर कोई संकट आ गया हो तो अपनी शक्ति अनुसार उसका निवारण करना चाहिए। इस प्रकार धर्मात्मा के प्रति अत्यन्त स्नहेपूर्ण बर्ताव करना चाहिए। जिन्हें धर्म का प्रेम हो, उन्हें धर्मात्मा के प्रति प्रेम होता है; धर्मात्मा के ऊपर आया संकट वे देख नहीं सकते।] ●

7. वात्सल्य अंग का वर्णन

जैसे गाय को अपने बछड़े के प्रति किसी प्रकार की आशा बिना निरपेक्ष प्रेम आता है; इसी प्रकार धर्मी को दूसरे साधर्मीजनों के प्रति सहज प्रेम आता है। उन्हें अपने ही गिनकर उनके प्रति वात्सल्य आता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रधारक जीवों का समूह, उन्हें धर्मी जीव अपना सच्चा स्वजन मानता है। उनकी प्राप्ति होने पर मानो कोई महान निधान प्राप्त हुआ हो, ऐसी अत्यन्त प्रीति उत्पन्न होती है। उनका आदर, उनके गुण की स्तुति, आहार-पान, सेवा इत्यादि में आनन्द मानना, वह वात्सल्य अंग है। कपट से किसी को दिखाने के लिए नहीं करता अथवा किसी प्रतिफल की आशा से नहीं करता परन्तु धर्म की प्रीति के कारण धर्मी को ऐसा प्रेमभाव सहज आ जाता है। जिस वीतरागभाव को मैं साधता हूँ, उसी धर्म को ये साध रहे हैं, इसलिए ये मेरे साधर्मी हैं; मेरे साधर्मी को कोई दुःख न हो, इन्हें धर्म में कोई विघ्न न हो-इस प्रकार साधर्मी के प्रति वात्सल्य होता है। यद्यपि इसमें राग तो है परन्तु उस राग की दिशा संसार की ओर से पलटकर धर्म की ओर झुका दी है। संसार में स्त्री-पुत्र, पैसे इत्यादि का राग तो पाप बन्ध का कारण है और साधर्मी के प्रति धर्मानुराग में तो धर्म की भावना पोषित होती है।

धर्मी को अन्तरंग में तो अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप आत्मा में परम प्रीति है, उसे ही अपना स्वरूप जानता है, वह परमार्थ वात्सल्य है और व्यवहार में रत्नत्रय के धारक दूसरे साधर्मी

जीवों को अपने समझकर उनके प्रति परम प्रीतिरूप वात्सल्य आता है। धर्मात्मा के ऊपर दुःख आवे, उसे साधर्मी देख नहीं सकता। हर प्रकार से उसका दुःख मिटाने का उपाय करता है।

सम्यग्दृष्टि को किसी भी जीव के प्रति बैरभाव नहीं है, तो फिर धर्मी के प्रति तो ईर्ष्या किसकी होगी! दूसरा जीव अपने से बढ़ जाए, वहाँ द्वेष नहीं होता परन्तु अनुमोदना / प्रेम आता है। साधर्मी को अन्दर ही अन्दर प्रेम होता है। कैसा प्रेम? – कि माता को पुत्र के प्रति प्रेम हो, वैसा निर्दोष प्रेम; गाय को बछड़े के प्रति प्रेम हो, वैसा निःस्पृह प्रेम धर्मी को साधर्मी के प्रति होता है। अभी उसके दुःख में मैं मदद करूँगा तो कभी सही समय में वह मुझे काम आयेगा – ऐसे प्रतिफल की आशा न रखे परन्तु धर्म के सहज प्रेम से निस्पृहभाव से धर्मी के प्रति वात्सल्य रखे।

जैसे माता अपने पुत्र का दुःख नहीं देख सकती, हिरणी अपने बच्चे के प्रेम के खातिर उसकी रक्षा करने के लिए सिंह के सामने होती है। सच्ची माता के प्रेम की एक बात आती है कि एक बालक के लिए दो स्त्रियों का विवाद हुआ। न्यायाधीश ने (सत्य की परीक्षा के लिए) बालक के दो टुकड़े करके दोनों को एक-एक बाँट देने का हुकम दिया; यह सुनते ही सच्ची माता का तो कलेजा फट गया! पुत्र को बचाने के लिए उसने कहा —भले पूरा-पूरा पुत्र इसे दे दो, मुझे इसके टुकड़े नहीं करना है। दृष्टान्त में से इतना ग्रहण करना है कि सच्ची माता पुत्र का दुःख नहीं देख सकती, उसे सहज वात्सल्य उमड़ता है। प्रद्युम्नकुमार सोलह वर्ष में घर आये, तब रुक्मणी माता के हृदय में वात्सल्य की धारा उमड़ पड़ी; इसी

प्रकार वास्तविक प्रसंग में साधर्मी का प्रेम छिपा नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दृष्टि के प्रति अन्तर का प्रेम होता है, उसे देखने पर, उसके गुण की बात सुनने पर प्रेम आता है। धर्म का प्रेम हो, उसे धर्मी के प्रति प्रेम होता ही है क्योंकि धर्म और धर्मी कोई पृथक् नहीं है। (—न धर्मो धार्मिकैः विना)

यह तो सम्यग्दर्शनसहित आठ अंग की बात है परन्तु इससे पहले भी धर्म के जिज्ञासु को धर्म के प्रति वात्सल्य, धर्मात्मा का बहुमान इत्यादि भाव होते हैं। मोक्ष का वास्तविक कारण तो अन्दर में परद्रव्य से भिन्न अपने आत्मा की रुचि और ज्ञान करना ही है। सम्यग्दर्शन बिना शुभभाव से मोक्षमार्ग नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बाद भी जो राग है, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है; मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव ही है। जहाँ राग की भूमिका है, वहाँ ऐसे वात्सल्यादि भाव अवश्य आते हैं। इस प्रकार वात्सल्य अंग का वर्णन किया।

8

प्रभावना - अंग में प्रसिद्ध

वज्रकुमार मुनि की कथा

अहिछत्रपुर में सोमदत्त नाम के मन्त्री थे; उनकी सगर्भा पत्नी को आम खाने की इच्छा हुई। वह मौसम आम पकने का नहीं था, तथापि मन्त्री ने वन में जाकर खोज की तो सारे वन में एक आम वृक्ष पर सुन्दर आम झूल रहे थे। उन्हें आश्चर्य हुआ। उस वृक्ष के नीचे एक जैन मुनि बिराजमान थे, उसके प्रभाव से वृक्षपर आम पक गए थे। मन्त्री ने भक्तिपूर्वक नमस्कार करके मुनिराज से धर्म का स्वरूप सुना तो अत्यन्त वैराग्यवश उसी समय दीक्षा लेकर मुनि हो गए और पर्वतपर जाकर आत्मध्यान करने लगे।

सोमदत्त मन्त्री की स्त्री यक्षदत्ता ने पुत्र को जन्म दिया। वह पुत्र को लेकर मुनिराज के पास गयी, लेकिन संसार से विरक्त मुनि ने उसके सन्मुख दृष्टि न की, अतः क्रोधपूर्वक वह स्त्री बोली-यदि साधु होना था तो तुमने विवाह क्यों किया? मेरा जीवन क्यों बिगाड़ा? अब इस पुत्र का पालन-पोषण कौन करेगा? ऐसा कहकर मुनिराज के चरणों में बालक को रखकर चली गयी। इसी बालक का नाम वज्रकुमार है। उसके हाथ में वज्र का चिह्न था।

अरे! वन में बालक की रक्षा कौन करेगा?

ठीक उसी समय दिवाकर नाम का विद्याधर राजा तीर्थयात्रा करने को निकला, वह मुनि को वन्दन करने आया, और अत्यन्त तेजस्वी उस वज्रकुमार बालक को देखकर उठा लिया। ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति होने से रानी भी प्रसन्न हुयी। वे उस बालक को अपने

साथ ले गए और पुत्र की तरह उसका पालन-पोषण करने लगे। भाग्यवान जीवों को कोई न कोई योग प्राप्त हो ही जाता है।

वज्रकुमार युवा होने पर पवनवेगा नाम की विद्याधरी के साथ उसका विवाह हुआ और उसने बहुत से राजाओं को जीत लिया।

कुछ समय बाद दिवाकर राजा की रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। अपने ही पुत्र को राज्य मिले, इस लालसा में वह वज्रकुमार से द्वेष करने लगी। एकबार वह गुस्से में बोली कि अरे! यह किसका पुत्र है ? यहाँ आकर मुझे व्यर्थ हैरान करता है।

यह सुनते ही वज्रकुमार का मन उदास हो गया। उसे विश्वास हो गया कि मेरे सच्चे माता-पिता दूसरे हैं। अतः उसने विद्याधर से वास्तविक स्थिति जान ली। उसे ज्ञात हुआ कि मेरे पिता दीक्षा ग्रहण करके मुनि हो गए हैं। वह शीघ्र ही विमान में बैठकर मुनि के पास गया।

ध्यानस्थ सोमदत्त मुनिराज को देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ, उसका चित्त शान्त हुआ, विचित्र संसार के प्रति उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और पिता के पास से मानों धर्म का उत्तराधिकार माँगता हो! — ऐसी परम भक्ति से वन्दन करके कहा - हे पूज्य देव! मुझे भी साधुदीक्षा दो! इस संसार में मुझे आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सार नहीं लगता।

दिवाकर देव ने उसे दीक्षा न लेने के लिए बहुत समझाया, परन्तु वज्रकुमार ने दीक्षा ही ग्रहण की; वे साधु होकर आत्मा का ज्ञान-ध्यान करने लगे और देश-देशान्तर में घूमकर धर्मप्रभावना करने लगे। एकबार उनके प्रताप से मथुरानगरी में धर्मप्रभावना की

एक महान घटना हुयी। क्या घटना हुयी—उसे देखने के लिए अपनी कथा को मथुरानगरी में ले चलते हैं।

★ ★ ★

मथुरानगरी में एक गरीब बालिका जूठन खाकर पेट भरती थी, उसे देखकर एक अवधिज्ञानी मुनि बोले कि देखो, कर्म की विचित्रता! यही लड़की कुछ समय में राजा की पटरानी होगी।

मुनि की यह बात सुनकर एक बौद्धभिक्षुक उसे अपने मठ में ले गया और उसका पालन–पोषण करने लगा। उसका नाम बुद्धदासी रखा और उसे बौद्धधर्म के संस्कार दिए।

जब वह युवती हुई, तब उसका अत्यन्त सुन्दररूप देखकर राजा मोहित हो गया और उसके साथ विवाह करने की माँग की। परन्तु उस राजा के उर्विला नाम की एक रानी थी जो जैनधर्म का पालन करती थी, इसलिए मठ के लोगों ने कहा कि यदि राजा स्वयं बौद्धधर्म स्वीकार करें और बौद्धदासी को पटरानी बनायें तो हम विवाह कर देते हैं। कामान्ध राजा ने तो बिना विचारे यह बात स्वीकार कर ली। धिक्कार है विषयो को! विषयान्ध जीव सत्यधर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है।

अब बुद्धदासी राजा की पटरानी हुयी, अतः वह बौद्धधर्म का बहुत प्रचार करने लगी। एक बार उर्विलारानी जोकि जैनधर्म की परमभक्त थी, उसने प्रति वर्ष की भाँति अष्टाह्निका पर्व में जिनेन्द्र भगवान की विशाल अद्‌भुत रथयात्रा निकालने की तैयार की, परन्तु बौद्धदासी से यह सहन न हुआ। उसने राजा से कहकर वह रथयात्रा रुकवा दी और बौद्ध की रथयात्रा पहले निकालने को

कहा। अरे! जैनधर्म के परम महिमा की उसे कहाँ खबर थी? गाय और आक के दूध का अन्तर मन्दाध पुरुष क्या जानेगा?

जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा में विघ्न होने से उर्विलारानी को बहुत दुःख हुआ और जब तक रथयात्रा नहीं निकलेगी, तब तक के लिए अनशनव्रत ग्रहण करके वह वन में सोमदत्त और वज्रकुमार मुनि की शरण में पहुँची और प्रार्थना करने लगी कि हे प्रभो! जैनधर्म के ऊपर आये हुए संकट को आप दूर करें।

रानी को बात सुनकर वज्रकुमार मुनिराज के अन्तर में धर्म-प्रभावना का भाव जागृत हुआ। इसी समय दिवाकर राजा आदि विद्याधर वहाँ मुनि को वन्दन करके आए; वज्रकुमार मुनि ने कहा—राजन! तुम जैनधर्म के परम भक्त हो और मथुरा नगरी में जैन-धर्म पर सङ्कट आया है, उसे दूर करने में तुम समर्थ हो। धर्मात्माओं को धर्म की प्रभावना का उत्साह होता है, वे तन से -मन से - धन से शास्त्र से - ज्ञान से - विद्या से सर्वप्रकार से जैनधर्म की वृद्धि करते हैं और धर्मात्माओं के कष्टों को दूर करते हैं।

दिवाकर राजा धर्मप्रेमी तो थे ही, और मुनिराज के उपदेश से उन्हें प्रेरणा मिली, शीघ्र ही मुनिराज को नमस्कार करके उर्विलारानी के साथ समस्त विद्याधर माथुरा आये और धामधूमपूर्वक जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकाली। हजारों विद्याधरों के प्रभाव को देखकर राजा और बौद्धदासी भी आश्चर्यचकित हुए और जैनधर्म से प्रभावित होकर आनन्दपूर्वक उन्होंने जैनधर्म अङ्गीकार करके अपना कल्याण किया तथा सत्यधर्म प्राप्त कराने के लिए उर्विलरानी का उपकार माना। उर्विलारानी ने उन्हें जैन धर्म के वीतरागी देव-गुरु की

अपार महिमा समझायी। मथुरा नगरी के हजारों जीव भी ऐसी महान प्रभावना देखकर आनन्दित हुए और बहुमानपूर्वक जैनधर्म की उपासना करने लगे। इस प्रकार वज्रकुमार मुनि और उर्विलारानी द्वारा जैनधर्म की महान प्रभावना हुयी।

[वज्रकुमार मुनि की कथा हमें जैनधर्म की सेवा करना और अत्यन्त महिमापूर्वक उसकी प्रभावना करना सिखाती है। तन-मन-धन से, ज्ञान से, श्रद्धा से, सर्वप्रकार से, धर्म के ऊपर आया संकट दूर करके धर्म की महिमा और उसकी वृद्धि करना चाहिए। वर्तमान में तो मुख्यतः ज्ञान-साहित्य द्वारा धर्म-प्रभावना करना योग्य है।] ●

प्रभु! हर्ष और उत्साह तो...

जिस प्रकार शराबी मनुष्य को श्रीखण्ड का स्वाद, गाय के दूध जैसा लगता है; उसी प्रकार जिसने भ्रान्तिरूप शराब पी है - ऐसे अज्ञानियों को विषयों और राग में सुख लगता है; अन्दर भगवान आत्मा में विषयातीत अतीन्द्रिय सुख भरा है, वहाँ वह नजर नहीं करता। भाई! तूने गुरु के उपदेश की अस्वीकृति की है, मरकर तू कहाँ जाएगा? अरे रे! चींटी, कौआ और कुत्ते का यह अवतार! अहो! यह तो एक बार संसार का हर्ष और उत्साह टूट जाए - ऐसी बात है। प्रभु! हर्ष और उत्साह तो अन्दर आनन्दस्वभावी निज आत्मा में करने जैसा है।

8. प्रभावना अंग का वर्णन

जिनमार्ग द्वारा अपने ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को जानकर उसकी 'प्रभावना' उत्कृष्ट भावना तो धर्मी करता ही है और व्यवहार में भी ऐसे जिनमार्ग की महिमा जगत में कैसे प्रसिद्ध हो और जगत के जीव धर्म कैसे प्राप्त करें – ऐसा प्रभावना का भाव धर्मी जीव को होता है। वह अपनी सर्व शक्ति से, ज्ञान–विद्या–वैभव–तन–मन–धन–दान–शील–तप इत्यादि से धर्म प्रभावना करता है। किसी विशेष शास्त्र द्वारा, तीर्थ द्वारा, उत्तम जिनालय द्वारा, तथा अनेक महोत्सवों द्वारा भी प्रभावना करता है। अभी तो जीवों को सच्चा तत्त्वज्ञान मिले, ऐसी प्रभावना की विशेष आवश्यकता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने श्री समयसार इत्यादि अध्यात्म शास्त्रों की रचना द्वारा जिनशासन की महान प्रभावना की है और लाखों जीवों पर उपकार किया है। श्री समन्तभद्रस्वामी, श्री अकलंकस्वामी इत्यादि ने भी जैनधर्म की महान प्रभावना की है।

धर्म के ऊपर संकट आवे, वहाँ धर्मी जीव शान्त नहीं रहता। जैसे शूरवीर योद्धा युद्ध में छिपा नहीं रहता, इसी प्रकार धर्मात्मा धर्म के प्रसंग में छिपा नहीं रहता! धर्म की महिमा प्रसिद्ध हो, ऐसे कार्यों में वह उत्साह से अपने आप ही वर्तता है। देव–गुरु–शास्त्र के कार्यों में, तीर्थों के कार्यों में और साधर्मीजनों के कार्यों में अपनी शक्ति–अनुसार उत्साह से प्रवर्तता है। ऐसा शुभराग होता है, तथापि उसकी मर्यादा भी जानता है कि यह राग है, वह कहीं मुझे मोक्ष का साधन नहीं है। राग द्वारा मुझे या दूसरों को लाभ नहीं है। इसलिए

उसे राग की भावना नहीं परन्तु वीतरागमार्ग की प्रभावना और पुष्टि की ही भावना है।

अहा! ऐसा सुन्दर वीतरागमार्ग और ऐसे मार्ग को साधनेवाले ये मेरे साधर्मी भाई! इस प्रकार अपने साधर्मी भाई–बहिन के प्रति वात्सल्य आता है। वह साधर्मी का अपवाद नहीं होने देता। वाह! देखो तो सही! अन्तर्दृष्टिपूर्वक वीतरागमार्ग में व्यवहार का भी कितना विवेक है! ऐसा व्यवहार भी अन्दर में यथार्थ मार्ग का भान करे, उसे ही समझ में आता है। सम्यक्त्व के इन आठ अंगों द्वारा धर्मी जीव अपने में वीतरागमार्ग की पुष्टि करता है और सर्व प्रकार से उसकी प्रभावना करता है। प्रभावना अंग के लिए वज्रमुनि का उदाहरण शास्त्र में प्रसिद्ध है। इस प्रकार सम्यक्त्व के आठ अंग कहे गये हैं। ऐसे आठ गुणोंसहित शुद्ध सम्यक्त्व को आराधना और उनसे विरुद्ध शंकादि आठ दोषों का त्याग करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि को ही मार्ग की सच्ची प्रभावना होती है। जिसने धर्म का सच्चा स्वरूप जाना हो, वही उसकी प्रभावना कर सकता है। जो धर्म को पहिचानता ही नहीं, वह प्रभावना किसकी करेगा? अहो! जिनमार्ग कोई अद्भुत अलौकिक है; इन्द्र, चक्रवर्ती और गणधर भी जिसका भक्ति से आदर करते हैं, उस वीतरागमार्ग की क्या बात! ऐसा मार्ग और उसे आदर करनेवाले साधर्मियों का योग प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। ऐसे मार्ग को प्राप्त करके अपना हित कर लेने योग्य है। जितना रागभाव है, उसे धर्मी अपने स्वात्मकार्य से भिन्न जानता है और निश्चय सम्यक्त्वादि वीतरागभाव को ही स्वधर्म जानकर आदर करता है। धर्म का ऐसा स्वरूप समझकर उसकी प्रभावना करता है।

जो मात्र व्यवहार के शुभ विकल्पों को ही धर्म मान लेते हैं और

रागरहित निश्चयधर्म को नहीं समझते, उन्हें तो स्वयं में भी जरा भी धर्म नहीं है, इसलिए सच्ची धर्म प्रभावना भी उन्हें नहीं होती। अपने में धर्म हो तो उसकी प्रभावना करे न? यहाँ तो अन्तर में अपने शुद्धात्मा का अनुभव करके निश्चयधर्मसहित के व्यवहार धर्म की बात है।

अरे! वीतराग के सत्यमार्ग को भूलकर अज्ञान से कुमार्ग के सेवन द्वारा जीव अपना अहित कर रहे हैं, वे ज्ञान द्वारा सच्चा मार्ग प्राप्त करें और अपना हित करें, ऐसी भावना से धर्मी जीव ज्ञान के प्रचार द्वारा सत्य धर्म की प्रभावना करता है। स्वयं ने सत्यमार्ग जाना है, उसकी प्रभावना करता है। आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, शान्त-वीतराग-चिदानन्दस्वभावरूप है। उसे पहिचानकर उसमें 'यही मैं हूँ' ऐसा भाव, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

शरीर, मन, वाणी तथा राग-द्वेष से पार होकर अन्तर में अपने शुद्ध एकत्वस्वरूप में स्वसन्मुख दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है, वह मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है, वहीं से मोक्षमार्गरूप धर्म की शुरुआत होती है। जन्म-मरण के नाश के उपाय में पहला ही सम्यग्दर्शन है; इसके बिना सब जानपना और समस्त क्रियाएँ निरर्थक हैं। किसी पुण्य से-शुभराग से ऐसा सम्यग्दर्शन नहीं होता; अन्तर में शुद्धतत्त्व है, उसे ज्ञान में-अनुभव में लेकर निःशंक श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन होता है। ऐसे निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ सच्चे देव-गुरु-धर्म की पहिचान, नव तत्त्व की पहिचान तथा निःशंकतादि आठ गुण इत्यादि व्यवहार कैसा होता है, यह यहाँ बतलाया है। इसे जानकर मुमुक्षु जीवों को आठ अंगसहित शुद्ध सम्यक्त्व को धारण करना चाहिए।●

અનુભૂતિ તીર્થ મહાન, સ્વર્ણપુરી સોહે
યહ કહાનગુરુ વરદાન, મંગલ મુક્તિ મિલે.